अथर्ववेद में सांस्कृतिक तत्त्व

CULTURAL DATA IN THE ATHARVAVEDA

प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल्०
उपाधि के लिये प्रस्तुत प्रबन्ध

राजछत्र मिश्र
प्राचीन इतिहास, संस्कृति
और पुरातत्त्व विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय ।

...

सन् १९६४ ई०

प्राक्कथन

भारत की प्राचीनतम् संस्कृति के ज्ञान के लिये वैदिक साहित्य का परिशीलन अनिवार्य है। यद्यपि अथर्ववेद अन्य वेदों की ही भाँति भारत का एक धार्मिक ग्रन्थ है जिसमें जन सामान्य के विविध मंत्र-तंत्रों और विश्वासों का वर्णन है, तथापि इसमें अनेक लौकिक विषयों का भी समावेश है। जिससे तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, और आर्थिक परिस्थितियों का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। परन्तु खेद है कि ऐसा होते हुए भी इस ग्रंथ के आधार पर प्राचीन भारतीय संस्कृति का सांगोपांग विस्तृत अध्ययन नहीं हुआ है। प्रस्तुत निबन्ध इस अभाव की पूर्ति का एक तुच्छ प्रयास है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि अथर्ववेद संहिता का अध्ययन ही नहीं हुआ। वस्तुत: अपनी महत्ता के कारण यह ग्रंथ बहुत दिनों से पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों के अध्ययन का विषय रहा है जिन्होंने साहित्यिक, धार्मिक और आयुर्वैदिक आदि दृष्टियों से अध्ययन भी किया है। परन्तु संस्कृति के सभी अंगों का विस्तृत और सुचारू रूप में किसी ने भी अध्ययन नहीं किया है।

इस प्रबन्ध में अधोलिखित छ: अध्याय हैं:-

(१) राजनीतिक जीवन (२) सामाजिक जीवन (३) धार्मिक जीवन (४) आर्थिक जीवन (५) साहित्यिक और कलात्मक जीवन तथा (६) वैज्ञानिक जीवन।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध लिखने में अथर्ववेद संहिता की शौनकशाखा के प्रमाणिक संस्करण (बर्लिन, १८५६) और उस पर प्रकाण्ड विद्वान डब्ल्यू० डी० व्हिट्नी के अंग्रेजी अनुवाद को आधार बनाया गया है। व्हिट्नी का अनुवाद इस दृष्टि

से और भी महत्वपूर्ण है कि मंत्रों के अनुवाद की टिप्पणी में उसने अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा के मंत्रों की भिन्नता भी उद्धृत किया है। इसके साथ ही पैप्पलाद शाखा की संहिता का मूल संस्करण, जो जर्नल आफ अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी के भागों में श्री एल०सी० बारेट द्वारा प्रकाशित करवाया गया है, भी सहायक रहा है। अथर्ववेद संहिता का अर्थ समझने के लिये अंग्रेजी अनुवाद की अपेक्षा अथर्ववेदीय कौशिक सूत्र और सायण भाष्य का भी उपयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य विद्वान् लेखकों की कृतियों ने भी मेरा मार्ग दर्शन किया है। इनमें प्रो० एम० ब्लूमफील्ड, प्रो० ए०बी० कीथ, ए०ए० मैक्डानल, टी०आर०एच० ग्रिफिथ, एन० जे० शिन्डे, और डा० वी०डब्ल्यू० करमबेलकर की कृतियाँ प्रमुख हैं।

प्रस्तुत प्रबन्ध गुरुवर्य डा० कैलाश चन्द्र जी ओझा, एम० ए०, डी०फिल०, प्राध्यापक, प्राचीन इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, के निर्देशन में सम्पन्न हुआ। डा० साहब के प्रकाण्ड पाण्डित्य और अदम्य उत्साह से मुझे सतत प्रेरणा मिली है।

आचार्य प्रवर प्रो० गोवर्धन राय शर्मा, विभागाध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, और प्रख्यात पुरातत्ववेत्ता, ने मेरी विषयगत विभिन्न शंकाओं का सद्यः समाधान कर तथा आर्थिक सहायता प्रदान कर महान् अनुग्रह किया है, जिनके प्रति मैं सदा आभारी रहूँगा।

प्राचीन इतिहास के अन्य प्राध्यापकों, विशेषतः डा० बी०एन०एस० यादव, के अतिरिक्त इस कार्यकाल में मुझे जिन वैदिक विद्वानों से सम्पर्क स्थापित करना पड़ा उनमें प्रो० क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, शोध निदेशक, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, और प्रो० सरस्वती प्रसाद चतुर्वेदी; विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अन्त में मैं अपने अग्रज श्री केशव प्रसाद मिश्र, वेदाचार्य, एम० ए०, साहित्यरत्न, प्रो० गवर्नमेन्ट, संस्कृत कालेज, रीवां (म०प्र०), के प्रति भी आभार प्रगट करता हूँ जिन्होंने वैदिक वांगमय के प्रति मेरी रूचि उत्पन्न की।

राजछत्र मिश्र
प्राचीन इतिहास, संस्कृति और
पुरातत्व विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

...

विषय सूची

प्राक्कथन

प्रथम अध्याय

राजनीतिक जीवन

द्वितीय अध्याय

सामाजिक जीवन

तृतीय अध्याय

धार्मिक जीवन

चतुर्थ अध्याय

आर्थिक जीवन

पंचम अध्याय

वैज्ञानिक जीवन

षष्ठ अध्याय

साहित्यिक और कलात्मक जीवन

०००००००००००००

प्रथम अध्याय

राजनीतिक जीवन

अथर्ववेद में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का पर्याप्त विवरण प्राप्त होता है । यद्यपि ये विवरण क्रमबद्ध नहीं हैं, तथापि इन बिखरे हुये मंत्रों को एक विचार श्रृंखला में सजाने से राजनीति के विभिन्न अंगों पर प्रकाश पड़ता है । कदाचित् अपने इन्हीं गुणों के कारण अथर्ववेद को परवर्ती साहित्य में क्षात्रवेद नाम दिया गया है ।[१]

१. राजनीतिक शब्दावली :- (क) राष्ट्र :- राष्ट्र शब्द का प्रयोग राज्य या साम्राज्य के लिये कई स्थानों पर हुआ है । एक स्थान में पुरोहित राजा को राष्ट्र की रक्षा के लिये आशीर्वाद देता है ।[२] राष्ट्र की प्राप्ति देवों की कृपा पर आधारित समझी जाती थी क्योंकि रोहित से एक मंत्र में राष्ट्र प्राप्ति की प्रार्थना की गई है ।[३] पृथिवी देवी राष्ट्र के लिये तेज और पराक्रम धारण करने वाली कही गयी है ।[४] एक दूसरे स्थान में तत्कालीन आदर्श

१- ब्लूमफील्ड, सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, भाग ४२, पृ० २५, (भूमिका)

२- मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् । ६,८७,१

३- ये देवा राष्ट्रभृतो यन्ति सूर्यम् ।
तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः ।
१३,१,३५

४- सा भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे । १२,१,८

राष्ट्रों में परिक्षित का राष्ट्र अत्यन्त लोक कल्याणकारी माना गया है ।[1]

(ख) क्षत्र का अर्थ है, प्रभुत्व, शासन और शक्ति । यह देवताओं और मनुष्यों दोनों के शासन के लिये प्रचलित था । उन लोगों की धारणा थी कि राजा द्वारा अपमानित ब्राह्मण राजा की शक्ति (क्षत्र) और तेज को समाप्त कर देता था ।[2] ऐसे क्षत्र की प्राप्ति के लिये मंत्रसिद्ध रक्षा करंड बांधे जाते थे । एक मंत्र से ज्ञात होता है कि एक व्यक्ति (सम्भवत: राजा) पर्णमणि से क्षत्र और धन प्राप्ति की प्रार्थना करता था ।[3] एक दूसरे मंत्र में क्षत्र का प्रयोग शासक के अर्थ में हुआ है ।[4] 'हे इन्द्र, यह राजा अन्य शासकों में बलवान् हो'।[4] इस के अतिरिक्त यह राज्य के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है । 'तुम इस दैवी प्रजा पर शासन करो और तुम्हारा राज्य अजर और दीर्घायु हो'।[5] बड़े राज्य को महाक्षत्र कहा गया है ।[6] क्षत्र शब्द जहाँ ब्रह्म के साथ में आता है[7] वहाँ क्षत्र लौकिक शक्ति तथा ब्रह्म पारलौकिक शक्ति का द्योतक है ।[8]

१- जन: स भद्रमेधति राष्ट्रे राज्ञ: परिक्षित: । २०,१२७,९

२- निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चो....। ५,१८,४

३- मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद् रयिम् ।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तम: । ३,५,२

४- वर्ष्मक्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र । ४,२२,२, और १९,३०,४

५- त्वं दैवीविशं इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु ।६,९८,२

६- परीममिन्द्रमायुषे महे क्षत्राय धत्तन । १९,२४,२

७- अतो ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां । १५,१०,३, १९,२४,२

८- घोषाल, यू०एन० - इन्डियन हिस्टारिकल क्वाटरली, १९६४, पृ० १०९

(ग) विश् :- विश् का भिन्न भिन्न अर्थ किया जाता है ।[1] परन्तु राजा के साथ में इसका अर्थ प्रजा प्रतीत होता है ।[2] यह कभी कभी जन के लिये भी प्रयुक्त होता था ।[3] एक स्थान पर विश् का संबंधव: अथवा सम्बन्धियों के साथन उल्लेख है । यहाँ भी राजा के प्रजाजन और उसके वंशजों का अर्थ ज्ञात होता है ।[4]

(घ) विश्पति :- विश् का अर्थ जहाँ प्रजा है वहाँ विश्पति का अर्थ राजा या प्रजापति है । विशों का स्वामी एकराट् कहा गया है ।[5] प्रजा (विश्) के राजा को स्थिर रहने की कामना की जाती थी ।[6]

(ङ) संसद :- अथर्ववेद में संसद का भी उल्लेख मिलता है । सायण ने इसका अर्थ सभा किया है ।[7] व्हिटने[8] ने इसका समीकरण जन समूह (gathering) से किया है । तथा ग्रिफिथ[9] ने परिषद् से । परन्तु अथर्ववेद के एक सूक्त, जिसमें सभा और समिति का वर्णन है, उसमें संसद का उल्लेख है । हे इन्द्र, इन सभी संसद का

१- वै०इं० भाग २, पृ० ३६२ (हिन्दी)

२- त्वां विशो वृणतां राज्याय । ३,४,२

३- स्योना अस्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव । १४,२,२७

४- स विश: सबन्धूनमन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत् । ५,८,२

५- विशांपतिरेकराट् त्वं विराज । ३,४,१

६- ध्रुवो राजा विशामयम् । ६,८८,१ सायण ने विशाम् का अर्थ प्रजानां किया है ।

७- अस्या: सर्वस्या: संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु । ७,१३,३ इस पर सायण भाष्य संसद: सभाया ।

८- व्हिटने अथर्ववेद का अनुवाद, पृ० ३-९६

९- ग्रिफिथ, द हिम्स आफ द अथर्ववेद भाग २, पृ० २३० बनारस १८१७

१०-

मुझे मार्गी बनाओ ।[1] इसलिये यहाँ संसद एक ऐसी संस्था ज्ञात होती है जिसमें सभा और समिति दो परिषदें सम्मिलित थीं ।

(च) ग्रामणी :- ग्रामणी गाँव का प्रधान होता था । त्सिमर[2] ने ग्रामणी को सैनिक कर्मचारी और व्हिट्ने[3] ने सेना की टुकड़ी का नायक स्वीकार किया है । सायण ने इसे ग्राम नेता कहा है ।[4] इस प्रकार ग्रामणी नागरिक और सैनिक दोनों कार्यों का संपादन करने वाला गाँव का प्रधान प्रतीत होता है ।[5]

ग्राम राज्य शासन की एक इकाई था । राजा गाँवों को जीत लेता था ।[6] वह गाँवों की संपत्ति से भाग पाता था ।[7]

एक मंत्र में उदुम्बर मणि से प्रार्थना की गई है कि तुम ग्रामणी हो, ग्रामणी उठ कर अभिषिक्त हुआ है, वह मुझे भी तेज से सिंचित करे ।[8] इससे प्रतीत होता है कि ग्रामणी का भी राजा की ही भाँति अभिषेक किया जाता था । दूसरे स्थल में ग्रामणी, राजाओं, राजकर्ताओं तथा सूतों की श्रेणी में उल्लिखित है ।[9] और राजा उसको अपने अनुकूल बनाने का

१- वही मंत्र ७,१३,२

२- आल्टिन्डिशे लेबेन, १७१, उद्धृत वै०इं० भाग १, पृ० २७६

३- व्हिट्ने अथर्ववेद का अनुवाद, पृ० ९२

४- सायण मंत्र ३,५,७ पर 'ग्रामण्य:ग्राम नेतार:'

५- देखिये वै०इं० भाग १, पृ० २७६ (हिन्दी)

६- ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ।६,९७,:

७- एमं भज ग्रामे अश्वेषु । ४,२२,२

८- ग्रामण्यसि ग्रामणीरुत्थायाभिषिक्तोऽभि मा सिञ्च वर्चसा ।
१९,३१,१२

९- ये राजानो राजकृत: सूताग्रामण्यश्च ये । 3,5,6

अभिचार करता है । इससे अन्य कर्मचारियों की भांति ग्रामणी भी राज्य का महत्त्वपूर्ण सदस्य था । और राजा के चुनाव में सम्भवत: भाग लेता था । उसका पद राजा द्वारा मनोनीत था या वंशानुगत, इसमें से किसी एक पक्ष में भी अथर्ववेद से विवरण नहीं प्राप्त होता है ।

२. राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त :- सूक्तों एवं मंत्रों का अनुशीलन करने पर राज्य की उत्पत्ति के कई प्रमुख सिद्धान्तों की उपलब्धि होती है ।

(क) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त :- इस मत के समर्थक सामान्य रूप से शासन सत्ता का दैवी उद्गम स्वीकार करते हैं । अथर्ववेद के कतिपय उद्धरण भी इस आशय के अनुकूल हैं । एक स्थान में सर्वप्रिय शासक परिक्षित का वर्णन है, उस प्रसंग में उसे मनुष्यों में देव कहा गया है ।[१] दूसरे स्थल पर, संप्रभुता प्राप्ति के सन्दर्भ में कथन है कि राजा देवों का अंश प्राप्त करने वाला है ।[२] उस समय के लोगों का विश्वास था कि राजा को देवगण राज्याभिषेक के लिये बुलाते हैं । इसी भावना से प्रेरित होकर कदाचित राजा को इन्द्र का मित्र कहा गया है[३] इन्द्र स्वर्ग में दैवी विश् (प्रजा) का शासक था[४] और राजा पृथिवी पर सांसारिक विश् का ।[५] अब तक प्राप्त उद्धरणों में

१- राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवो मर्त्यां अति ।
वैश्वानरस्य सुष्टुतिमा सुनोता परिक्षित: ।। २०,१२७,७

२- देवानामर्धभागसि त्वमेक वृषो भव । ६,८६,३
इसी अर्थ का उपबृंहण मनु ने भी किया है, अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृप: । उद्धृत मल्लिनाथ टीका रघुवंश २, ७५, पर ।

३- आ तिष्ठ मित्र वर्धन तुभ्यं देवा अधिब्रुवन् । ४,८,२

४- एकवृष इन्द्रसखा जिगीवा । ४,२२,७

५- त्वामिन्द्राधिराज: श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् ।
त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु ।
६,९८,२

राजा का निरन्तर दैवी सम्बन्ध सिद्ध होता है। अन्यत्र राष्ट्र की उत्पत्ति आत्मज्ञानी ऋषियों की घोर तपस्या का परिणाम कहा गया है, सर्वप्रथम ऋषिगण दीक्षा और तप से संयुक्त हुये तत्पश्चात् राष्ट्र, बल और ओजस् उत्पन्न हुआ।[1] इतना ही नहीं राज्य की आधारभूत संस्थायें - सभा और समिति तो प्रजापति की पुत्रियाँ कही गई हैं।[2] तथा शासक वर्ग को स्वयं विराट् पुरुष की भुजाओं से उत्पन्न कहा गया है।[3] अब हम उक्त तथ्यों के आधार पर राज्य की दैवी उत्पत्ति स्वीकार कर सकते हैं।

(ख) सामाजिक अनुबन्ध :- अथर्ववेद के कई सूक्तों का विषय राजा के निर्वाचन से संबंधित है।[4] इससे ज्ञात होता है कि राजा किसी शर्त के पालन के लिये बाध्य होता था। इनमें से एक मंत्र में कहा गया है कि राजा की राज्य में तभी तक स्थिति थी जब तक प्रजा जन का उसमें विश्वास था।[5] उसका शासन भी तभी सफल हो सकता था जब वह समिति को अपने अनुकूल रखने में समर्थ होता था।[6] इसके अतिरिक्त प्रजा ने भी इसके बदले में कर (बलि) देना स्वीकार किया था।[7] श्री काशी प्रसाद जायसवाल ने इस प्रकार के राजतंत्र को अनुबन्धिक राज-

---

१- भद्रमिच्छन्त: ऋषय: स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ।।१६,४१,१

२- सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।
७,१२,१

३- बाहू राजन्योऽभवत् । १६,६,६

४- ३,४, ६,८७, ६,८८

५- विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ।६,८७,१

६- ध्रुवाय ते समिति: कल्पतामिह । ६,८८,३

७-वयं तुभ्यं बलिहृत: स्याम । १२,१,६०

तंत्र (कान्स्टीट्यूशनल मोनार्की) कहा है ।[1]

(ग) विकासवादी या ऐतिहासिक सिद्धान्त :- अथर्ववेद के सूक्त से समाज और उसकी संस्थाओं के क्रमिक विकास का सम्यक् विवरण प्राप्त होता है ।[2] इस सूक्त में, गाय रूप विराज् शक्ति-का गृहपति संस्था (तीन अग्नियाँ) ग्राम-संस्था (सभा), विश् की परिषद् (समिति) और आमन्त्रण (मंत्रिमंडल) में क्रमश पादक्षेप हुआ है । यह वर्णन इस प्रकार है, "निश्चय ही पहले विराट्मय यह संसार था, उसके उत्पन्न होते ही सभी लोग डर गये कि सर्वदा इसी प्रकार की अवस्था रहेगी, (इसके बाद) उसका पादक्षेप क्रमश: गार्हपत्य, आह्वनीय और दक्षिणाग्नियों में हुआ, (तत्पश्चात्) उसका उत्क्रमण हुआ और वह सभा में प्रविष्ट हुई, जो इस रहस्य को जानता है वह सभा का सदस्य होता है । (पुन:) वह समिति में गई । जो इस प्रकार (इसे) जानता है वह समिति के योग्य होता है । अन्त में वह उछल कर आमन्त्रण में गई जो इसे जानता है वह आमन्त्रण के योग्य होता है ।"[3] उक्त प्रसंग में परिवार,

---

१- हिन्दू पोलिटी भाग १, पृ० १६१

२- सूक्त ८,१०

३- विराड् वा इदमग्र आसीत् । तस्या जातायाः सर्वमबिभेदय-
मेवेदं भविष्यतीति ।
सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ।
सोदक्रामत् साहवनीये न्यक्रामत् ।
सा उदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् ।
सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत्
यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ।
सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ।
यन्त्यस्य समितिं भवति य एवं वेद ।
सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ।
यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ।।

ग्राम, विश् और मंत्रिमंडल के ऐतिहासिक विकास का आभास मिलता है। इस सम्बन्ध में डा० अनन्त सदाशिव अल्तेकर का भी मत उल्लेखनीय है। उपलब्ध प्रमाणों से स्पष्ट है कि अन्य आर्य जातियों की भांति भारत में भी प्रागैतिहासिक काल में संयुक्त कुटुम्ब से ही शासन संस्था का विकास हुआ। कुटुम्ब के गृहपति का आदर और मान स्वाभाविक था, ग्राम के मुखिया और जनपति भी इसी परम्परागत सम्मान के भाजन हुये। [१]

राज्य के घटक :- अथर्ववेद में राज्य के सम्पूर्ण घटकों का यत्र तत्र प्रसंग प्राप्त होता है। परन्तु यह प्रसंग क्रमबद्ध नहीं है।

(क) स्वामी :- राजा राज्य का स्वामी होता था। [२] इसका पद प्रतिष्ठित एवं उत्तरदायित्व पूर्ण था। वह विशां पति और एकराट् कहा जाता था। [२]

(ख) आमात्य :- राज्य का दूसरा घटक आमात्य वर्ग होता था। ये लोग राजा को समुचित मन्त्रणा देते थे। अथर्ववेद में सभा और समिति के पश्चात् आमन्त्रण नामक एक संस्था का प्रसंग है। [३] कदाचित यह राजा के मंत्रिमंडल का घोतक था।

(ग) सुहृत् :- राज्य का अन्य प्रमुख अंग सुहृत् या मित्र था। एक स्थल पर उल्लेख है कि ब्राह्मण विरोधी शासक के मित्र उसके वश मे न हीं रहते और समिति उसके प्रतिकूल हो जाती थी [४]

१- अल्तेकर, ए०एस० - प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ०२६-३०, संस्करण १६५६, द्रष्टव्य सेल्फ गवर्नमेन्ट इन एन्शेन्ट इन्डिया, एन०वी० पेगी, पूना, १६१८, पृ० ३८३

२- विशां पतिरेकराट् त्वं विराज। ३,४,१

३- उद्धृत पूर्व ८,१०,७

४- नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम्। ५,१६,१५

अतः राजाकी सफलता में मित्र (सुहृत्) का महत्त्व उन्हें ज्ञात था।

(घ) कोश :- विश्पति (प्रजापति) के दो कर्मचारियों (दाधारों) का एक स्थान में उल्लेख है। इनमें से एक धन लेने-लाने वाला है तथा दूसरा संग्रह करने वाला है। ये दोनों बहुल से धन को दिलाने वाले कहे गये हैं।[१] अन्यत्र देवों की नगरी का वर्णन है जिसमें सोने के कोश का उल्लेख है।[२]

(ङ) राष्ट्र :- राज्य का पाँचवां घटक राष्ट्र है। अथर्ववेद में इसका कई बार उल्लेख है। प्रत्येक दम्पति से राष्ट्र की उन्नति में योगदान की कामना की जाती थी।[३]

(च) दुर्ग :- दुर्ग के अर्थ में पुर् शब्द प्रयुक्त होता था। दुर्गों को लोहे के समान अभेद्य बनाया जाता था।[४] इन्द्र पुरों का नाश करने में समर्थ था।

(छ) बल :- प्रत्येक राज्य में सेना (बल) रहती थी। विश् (प्रजा) का अनुगमन करने वाले राजा की सेना उसका अनुगमन करती थी।[५]

१- उपोहश्च समूहश्च दान्तारौ ते प्रजापते।
तविहा वहतां स्फातिं बहु भूमानमक्षितम्॥ ३,२४,७

२- अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूः अयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ १०,२,३१

३- आभवर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्। ६,७८,२
विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य राष्ट्र पीछे पृ० १ पर

४- पुरः कृणुध्वं आयसीः अधृष्टाः। १९,५८,४

५- स विशोऽनु व्यचलत्। तं... सेना च सुराचानुव्यचलन्॥
१५,९,१-२

४. राज्य के कर्तव्य और कार्य :- अथर्ववैदिक राजसत्ता कठोर नहीं थी । शासक प्रजा पर मनमानी शासन नहीं कर सकता था । इसका एकमात्र कारण प्रजाजन द्वारा राजा का निर्वाचन[1] था जिसमें सम्पूर्ण प्रजा का उसके अनुकूल रहना परमावश्यक था ।[2] राजा की प्रतिष्ठा प्रजा के पालन में ही थी ।[3] शासक का जीवन कठोर व्रतों के पालन में व्यतीत होता था और ऐसे ही शासक से राष्ट्र का कल्याण समझा जाता था ।[4] वह असत् की अवहेलना कर सदा सत्य का पोषक था ।[5] राजा ब्राह्मणों से शुल्क नहीं लेता था ।[6] वह ब्राह्मणों की सम्पत्ति को बड़ी सावधानी से संरक्षित करता था । वह ब्राह्मण का वध नहीं कर सकता था । क्योंकि ऐसा करने से उसके राज्य का ही नाश संभावित समझा जाता था ।[7] इस प्रकार राजा का सम्पूर्ण कार्य प्रजा के रंजन के लिये था । प्रजा भी ऐसे शासक और राज्य का पग पग पर साथ देने को उद्यत रहती थी ।[8]

१- त्वां विशो वृणतां राज्याय ३,४,२

२- विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु ४,८,७

३- विशि राजा प्रतिष्ठित: । यजुर्वेद २०,६

४- ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति । ११,५,१७

५- सत्यधर्मा प्रजापति: । ७,२५,१

६- ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन् ये वास्मिञ्छुल्कमीषिरे ।
अस्नस्ते मध्ये कुल्याया: केशान् खादन्त आसते ।। ५,१९,३

७- उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति ।
परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ।। ५,१९,६

८- अभिवर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम् ।
इस मंत्र में वर वधू को आशीर्वाद दिया गया है कि वे राष्ट्र के साथ अपनी उन्नति करें ।

एक सूक्त (कन्ताप सूक्त) में राजा परिक्षित के उत्कृष्ट शासन का वर्णन है । उसके कार्यों की प्रशंसा एक पति अपनी पत्नी से इस प्रकार करता है, कि राजा परिक्षित ने सिंहासन पर बैठते हुये हमें शान्ति और विश्रान्ति प्रदान की है । वह हमारे कुल का शासक है ।[१] इसी प्रकार उसके सुसंगठित शासन में अभिवर्धमान दाम्पत्य-प्रेम का वर्णन देखिए ।

"पत्नी पूछती है कि, आपको क्या परोसूं, दही, मठ्ठा (मन्था) या जौ का जूस"।[२]

राजा कृषि पर भी ध्यान देता था । एक स्थल पर वह कृषि का वितरण करता हुआ प्रदर्शित है ।[३]

५. राज्य के प्रकार :-

(क) एकतंत्र :- (मोनार्की); अथर्वकाल में एकतंत्र प्रचलित शासन प्रणाली थी । राजन् शब्द अथर्ववेद में बीस स्थानों में तथा इसका बहुवचन दस स्थलों में प्रयुक्त हुआ है । राजा प्रजा प्रिय होने पर विश्पति[४] और प्रजापति[५] की उपाधि धारण करता था । राजा की सहायता उसकी दो परिषदें - सभा और

१- परिच्छिन्नः क्षेममकरोत् तम आसनमाचरन् ।
कुलायन कृण्वन् कौरव्यः पतिर्वदति जायया ।। २०,१२७,८

२- कतरत् त आ हराणि दधिमन्थां परि श्रुतम् ।
जायाः पतिं वि पृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ।।
२०,१२७,९

३- नो राजा नि कृषिं तनोतु । ३,१२,४

४- विशां... पतिरेकराट् त्वं विराज । ३,४,१

५- अयं विशां विश्पतिरस्तु राजा । ४,२२,३

५- सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।
७,१२,१

समिति करती थीं ।[1] इसके साथ ही पुरोहित और ग्रामणी शासनतंत्र के प्रबल सहायक थे ।[2]

(ख) गणतंत्र :- इस समय एक दूसरा शासन तंत्र गणतंत्र प्राप्त होता है । गण के साथ महागण शब्द भी मिलता है ।[3] कात्यायन ने कुलों के समूह को गण कहा है ।[4] अथर्ववेद में भी गण शब्द मरुतों के साथ मिलता है ।[5] इससे इस काल में अभिजात कुलीय शासन प्रणाली ज्ञात होती है । त्सिम्मर[6] महोदय ने सजातानां[7] के आधार पर अभिजाततंत्रात्मक शासन प्रणाली की स्थिति सिद्ध की है । डा० रमेश चन्द्र मजूमदार ने त्सिम्मर के मत का समर्थन किया है और उसके प्रमाण में एक मंत्र उद्धृत किया है ।[8] जिस के अनुसार एक हजार वैतहव्य लोग एक ही साथ शासन करते हुये दृष्टिगत होते हैं । अत: अधिकांश विद्वान अथर्ववैदिक काल में ही गणतंत्र शासन की स्थिति स्वीकार करते हैं ।[9]

१- वही ७, १२,१

२- द्रष्टव्य पृ० ४, ३१-३४

३- गणेभ्य: स्वाहा । महागणेभ्य: स्वाहा । १६,२२,१६-१७

४- कुलानां हि समूहस्तु गण: संपरिकीर्तित: । उद्धृत विक्रम पृ० ४२६

५- तस्यैष मारतो गण: । १३,४,८

६- आल्टिन्डिशे लेबैन, पृ० १७६-७७

७- उद्धृत कारपोरेट लाइफ इन ए० इं०,मजूमदार, पृ० ८६-९० संस्करण १९१८

८- ३,४,२

९- मजूमदार - कारपोरेट लाइफ इन ए०इं०, पृ० ८६-९०

६. राजत्व :-

(क) शासक का निर्वाचन :- अथर्ववैदिक काल की राजनीति की एक महत्वपूर्ण विशेषता है शासक का निर्वाचन ।[१] इस विषय का वर्णन एक समस्त सूक्त में हुआ है ।[२] इस प्रकरण में वरुण राजा को बुलाता हुआ प्रदर्शित किया गया है ।[३] वरुण शब्द √वृ धातु से बना है जिसका अर्थ होता है चुनने वाला । पुन: अगले मंत्र में वरुणा बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है और राजा को उन वरुणों की इच्छाओं के अनुकूल रहने वाला कहा गया है ।[४] इस प्रकार ये बातें राजा के चुनाव पर प्रकाश डालती हैं । इसी सूक्त के दूसरे मंत्र से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है । उसमें प्रजाजन एवं दिशाओं-प्रदिशाओं से राजा के चुनाव की प्रार्थना की गई है ।[५] प्रजापति का आविर्भाव प्रजा से ही हुआ माना गया है ।[६]

१- इस तथ्य को बहुत से विद्वानों ने स्वीकार किया है ।
द्रष्टव्य डा० राजबली पाण्डेय - प्रोसीडिंग्स आफ इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेस (१४वां सेशन, १६५१, पृ० ८६-६१) ।
जायसवाल, के०पी० - हिन्दू पोलिटी, अध्याय २३ ।
ब्लूमफील्ड - सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, भाग ४२, पृ०११३ ।
वेबर उद्धृत व्हिटने - अथर्ववेद का अनुवाद, पृ० ६० ।
त्सिमर - आ०ले०, पृ० १६२

२- सूक्त ३,४, इस सूक्त को डा० राजबली पाण्डेय ने निर्वाचन-गान कहा है । वही पृ० ८६-६१ ।
डा० के०पी० जायसवाल ने सूक्त ६,८७-८८ को भी इसी विषय से संबंधित माना है । वही अध्याय २३ ।

३- तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत् स उपेदमेहि ।३,४,५

४- सं ह्यज्ञास्था वरुणै: संविदान: । ३,४,६

५- त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमा: प्रदिश: पञ्च देवी: । ३,४,२

६- प्रजापति: प्रजाभिरुदक्रामत् । १६,१६,११

(ख) राजा की योग्यता :- राजा की योग्यता के विषय में कोई विशेष विवरण नहीं मिलता है। उसका जीवन संयम से पूर्ण था। राजा की उपाधि प्रजापति थी। एक जगह प्रजापति सत्य धर्म का आचरण करने वाला कहा गया है।[1] दूसरे स्थानपर शिक्षा ग्रहण करते समय राजा ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ कहा गया है।[2] क्योंकि ऐसा समझा जाता था कि ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला राजा ही राज्य की रक्षा कर सकता था।[3]

(ग) राज्याभिषेक :- निर्वाचन कार्य सम्पन्न होने के पश्चात् राजा के राज्याभिषेक ~~संस्कार~~ महोत्सव का आयोजन किया जाता था। इस कार्य को सूक्त में राजसूय कहा गया है।[4] इससे प्रतीत होता है कि सम्भवत: राजा का अभिषेक राजसूय यज्ञ सम्पादन के पश्चात् किया जाता था।

राज्याभिषेक की विधि का प्रारम्भ राजा के अभिषेक (पूर्ण स्नान) से होता था। इस अवसर पर कई नदियों का जल मंगाया जाता था। पार्थिव जलों की अपेक्षा अन्तरिक्ष और स्वर्गीय जलों का आवाहन किया जाता था।[5] इन सभी जलों से राजा का अभिषेक किया जाता था। इस अवसर पर पुरोहित राजा को व्याघ्र चर्म से आच्छादित सिंहासन पर बैठने

१- सत्यधर्मा प्रजापति:। ७, २५,१

२- आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापति: । ११,५,१६

३- ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति । ११,५,१७

४- इस सूक्त का प्रयोग सूत्रकार कौशिक (१७,१) और वैतान सूत्र (३६,७) ने राज्याभिषेक या राजसूय महोत्सव के लिये किया है। मंत्र से भी यह बात सिद्ध होती है।
राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् । ४,८,१

५- भूतो भूतेषु पय आदधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव । ~~तस्य~~ वही ४,८,१
या आपो दिव्या: पयसा मदन्त्यन्तरिक्ष उत वा ~~पृथिव्यां~~ पृथिव्याम् ।
तासां त्वा सर्वासामपामभिषिञ्चामि वर्चसा ।। ४,८,५

के लिये कहता था । 'हे राजन्, तुम व्याघ्र हो, तुम इस व्याघ्र चर्म पादद्वीप करो । सभी दिव्य जल और दुग्ध धाराएं तथा प्रजाजन तुम्हारी इच्छा करें'।[1] इस अवसर पर राजा एक सिंह का आलिंगन करता था जो बहुत ही शुभ समझा जाता था । ऐसा करने से वह समुद्र में स्थित अच्छी भूमि वाले द्वीपों को अपने वश में करने वाला होता था ।[2] राजा के अभिषेक समारोह में विशाल जनसमूह भाग लेता था और धूमधाम से यह उत्सव सम्पादित किया जाता था । राजा अभिषिक्त होकर प्राणियों के लिये दुग्ध आदि वस्तुओं की सम्यग् व्यवस्था करने के कारण वह उत्पन्न हुए लोगों का आधिपत्य हुआ ।[3] लोगों का विश्वास था कि उसके राजसूय (अभिषेक) में धर्म और अधर्म के दृष्टा यमराज भ्रमण करते हैं । इसलिये सब लोगों से राजाज्ञ: पालन करने का निवेदन किया गया है ।[4] अन्यत्र शासक में उक्त यम (मृत्यु) के गुण प्राप्त

१- व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे विक्रमस्व दिशो मही । ४,८,४

२- एना व्याघ्रं परिषस्वजाना सिंहं हिन्वन्ति महते सौभगाय ।
समुद्रं न सुभुवस्तस्थिवांसं मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्वन्त: ।।४,८,७

३- व्हिटने (अथर्ववेद पृ० १५८) ने सुभुवस्तस्थिवांसं का अर्थ सुख पूर्वक समुद्र में रहने वाले लोगों से किया है । इसी प्रकार द्वीपिनं का अर्थ मोनिअर विलियम ने संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी में द्वीपों को रखने वाला किया है । अत: सुभुव और द्वीपिनं शब्द इस बात की ओर संकेत करते हैं कि तत्कालीन राजा का संबंध समुद्र में किसी द्वीप से रहा होगा । इस परंपरा का पालन समुद्रगुप्त ने सम्यक रूप से किया था । उसे व्याघ्र पराक्रम और सभी द्वीपों (सर्वद्वीप वासिभि:) पर आधिपत्य स्थापित करने वाला कहा गया है ।(प्रयाग प्रशस्ति)सम्भवत: इसी परंपरा के पालन के लिये गुप्त नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय और समुद्रगुप्त ने व्याघ्रहन्ता सिक्का चलाया ।

३- भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ।।

होते हैं । इस प्रसंग में उसे राज्य का प्रबल संरक्षक - शत्रुओं का विच्छेदक (सपत्नहा) और मित्रों की वृद्धि करने वाला कहा गया है ।[1] वह सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत रहते हुये सिंहासन पर पर्वत के समान अचल होकर बैठता था । वह इन्द्र के समान चिर राज्य-भोक्ता था ।[2]

(घ) राजा की उपाधियाँ :- अथर्ववैदिक काल में शासक की प्रचलित उपाधि राजा थी । राजा का अर्थ होता है प्रजा का रंजन (सुरक्षा आदि) करने वाला। राजा अपनी शक्ति के विकास होने पर और भी उपाधियां धारण करता था । इसमें अधिराज, एकराट्, सम्राट, प्रजापति और विश्पति प्रमुख है । राजाओं में श्रेष्ठ राजा को अधिराज कहा जाता था । तथा अन्य राजाओं द्वारा प्रशंसनीय और वन्दनीय होता था एवं वे लोग उसका स्वागत, प्रतीक्षा और आदर करते थे ।[3] एकराट् भी राजन् से बड़ा होता था । कई विशों के स्वामी को एकराट् कहा जाता था ।[4] इस पदवी से राजा को इस अवसर पर सम्बोधित किया गया है जब वह निर्वाचन और राज्यारोहण के लिये तत्पर हुआ था । अत: ऐसा प्रतीत होता है कि सिंहासन रोहण के समय राजाओं से एकराट् बनने की अभिलाषा की जाती थी । सम्राट्

१- अभि प्रेहि माप वेन उग्रश्चेता सपत्नहा ।
आतिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधिब्रुवन् ।। ४,८,२

२- इहैवैधि माप च्योष्ठा: पर्वत इवाविचा चलत् ।
इन्द्र इवेह ध्रुवास्तिष्ठेह राष्ट्र मुधारय ।। ६,८७,२

३- इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै ।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ।। ६,९८,१

४- विशां पतिरेकराट् त्वं विराज । ३,४,१

उपाधि भी बड़े बड़े नरेशों द्वारा धारण की जाती थी होगी। एक मंत्र में सम्राट एक-छत्र राज्य का भोक्ता कहा गया है।[1] ऐतरेय ब्राह्मण में तो समुद्र पर्यन्त पृथिवी के शासक को एकराट् कहा गया है।[2] अथर्ववैदिक काल में राज्य बहुत विस्तृत न भी रहा हो तब भी शासकों का एकराट् और सम्राट् जैसी उपाधियाँ विशाल राज्य स्थापना के आदर्श को प्रस्तुत करती हैं। यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि अथर्ववैदिक आर्य समुद्र से परिचित नहीं थे। क्योंकि बहुत से उद्धरण इस तथ्य के अनुकूल हैं।[3] शासक प्रजा का प्रतिनिधि था अत: इस दृष्टि से राजा को प्रजापति और विश्पति भी कहा जाता था।

(ड) दैवी शक्तियाँ :- पीछे राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त पर विचार किया जा चुका है। उससे राजा का दैवी शक्तियों से संबंध ज्ञात होता है। इस काल में इन्द्रजाल का इतना अधिक प्रचार था कि देवगण भी अभिचार के प्रभाव में आकर उसके कर्ता के उद्देश्यों की पूर्ति करने में बाध्य थे। यही कारण है कि यद्यपि राजा को इन्द्र सखा कहा गया है[4] ~~तथापि राजा का जीवन और पद सुरक्षित नहीं था।[4]~~ एक अन्य मंत्र में राजा से कहा गया है कि तुम असुरों में सम्राट हो, मनुष्यों में श्रेष्ठ हो और देवों का अंश प्राप्त करने वाले हो, तुम एकराट् बनो।[5] ~~सज्जन~~ प्रजा भी राजा की दैवी शक्तियों से उतनी

१- सम्राडेको वि राजति। ६,३६,३

२- समुद्रपर्यन्ताया: पृथिव्या एकराट्। ऐतरेय ब्राह्मण ७,८,१५

३- समुद्रो नदीभिर दुक्रामत् १६,१६,७ समुद्रांस्त्रीन १६,२७,४

४- इन्द्रसखा ४,२२,७

५- त्वं सम्राडसुराणां ककुन्मनुष्याणाम्।
देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव।। ६,८६,३

भयभीत नहीं रहा करती थी जितनी परवर्ती काल की प्रजा ।

इस प्रकार राजा न तो कभी जनता के प्रति अन्यमनस्क ही रहा और न तो केवल देवों के प्रति ही उत्तरदायी, वह तो मानवीय गुणों से युक्त जनता का सच्चा सेवक था ।

(च) राजत्व पर प्रतिबन्ध: - अथर्ववेद के कतिपय मंत्रों से ज्ञात होता है कि राजसत्ता पूर्ण रूप से निरंकुश नहीं थी । उसकी स्वच्छन्दता और स्वतंत्रता के लिये कई प्रतिरोधक शक्तियां भी थीं, जो इस प्रकार हैं -

पुरोहित:- पुरोहितवाद का राजशक्ति पर प्रबल प्रभाव था । राजा की सफलता विविध कर्मकाण्डों और अभिचारों पर निर्भर थी । पुरोहित लोग उसके लिये तरह तरह के अभिचार करते थे और मंत्र सिद्ध मणियों को राजा के हाथ में बांधते थे । राजा ब्राह्मणों की सम्पत्ति का कथमपि हरण नहीं कर सकता था । ब्राह्मण अवध्य था । जो राजा ब्राह्मण का वध करता था उसके राज्य का पतन हो जाता था ।१

प्रजाजन :- राजा ~~प्रजा~~ समस्त प्रजा की इच्छाओं का आदर करता था ।२ क्योंकि राजा निर्वाचित किया जाता था । राजा के सगे संबंधी (सजात, सनाभि३) रथकार, कर्मकार, सूत, ग्रामणी तथा अन्य प्रमुख व्यक्ति राजा का निर्वाचन करते थे । इसलिये राजा सदा इन्हें अनुकूल बनाने की चेष्टा करता था ।४ प्रजा के अनुकूल रहने वाले शासक की सभा, समिति और सेना साथ देती थी ।५

१- उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति ।
परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ।। ५,१६,६

२- विशस्त्वा सर्वा वा छन्तु । ६,८७,१

३- तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम् ।१,६,३
नेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्मेमं प्रापत ।
पौरुषेयो वधो य: । १,३०,१

४- ये धीवानो रथकारा कर्मारा ये मनीषिण: ।
ये राजानो राजकृत: सूता ग्रामण्यश्च ये ।
उपस्तीन पर्णमिह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ।।३,५,७

५- नास्मै समिति: कल्पते न मित्रं नयते वशम् । ५,१६,१५

समिति :- राजा अपने शासन में तभी सफल हो सकता था जब समिति उसके अनुकूल रहे। ब्राह्मण हन्ता राजा की समिति उसके अनुकूल नहीं रहती थी और उसके मित्र विरीत हो जाते थे।[१] इसलिये पुरोहित आशीर्वाद देता था कि समिति राजा के सदा अनुकूल रहे।[२] सभा और समिति के साथ उसे पवित्र और पुत्री के समान व्यवहार करना पड़ता था।[३]

(छ) राजा का कार्यकाल :- एक मंत्र से ज्ञात होता है कि राजा सौ वर्ष तक राज्य करता था।[४] अत: राजा लगभग आजीवन ही राज्य करता था। क्योंकि इस समय के लोग सौ वर्ष तक ही जीने की कामना करते थे।[५]

(ज) पदच्युत राजा की पुनर्स्थापना :- अथर्ववेद के एक सूक्त से राजा की पुन:स्थापना पर प्रकाश पड़ता है।[६] सूत्रकार कौशिक [७] का कथन है कि यह इस सूक्त का प्रयोग राज्य से निष्कासित राजा की पुन:स्थापना के लिये किया जाता था।

१- वही पूर्वोद्धृत ५,१९,१५

२- ध्रुवाय ते समिति: ~~कल्पतामिह~~ कल्पतामिह। ६,८८,३

३- सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। ७,१२,१

४- दशमीमुग्र: सुमना वशेह।। ३,४,७

५- वही ३,४,७

६- द्रष्टव्य व्हिटने अथर्ववेद का अनुवाद, पृ० ८७,
ब्लूमफील्ड, सैं० बु० आफ द ईस्ट भाग ४२, पृ० १९२ एवं ३२७।
वेबर उद्धृत ब्लूमफील्ड, वही पृ० ३२८।
डा० राजबली पाण्डेय - आल इं० ओ० कान्फ्रेंस, अहमदाबाद (१७वां सेशन), १९५३, पृ० ११-१२

७- कौ० सू० १६,३०

इस सूक्त[1]से इस बात पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है कि राजा किस कारण से पदच्युत किया जाता था । सम्भवत: तत्कालीन राजा की स्थिति सुरक्षित नहीं थी । वह अपने विद्रोहियों द्वारा मार दिया जाता था या पदच्युत कर दिया जाता था । राजा की सफलता के लिये कई सूक्तों का प्रयोग हुआ है । इससे प्रतीत होता है कि राजा की निरंकुशता और धर्महीनता उसे विनष्ट कर देती थी । निरंकुशता के कारण राजा की पदच्युति ऐतरेय ब्राह्मण के एक कथानक से सिद्ध होती है जिसमें कहा गया है कि प्रजापति अपनी पुत्रियों (सभा और समिति) पर अत्याचार करता था ।[2]जिससे उसे पदच्युत कर दिया गया ।[3] ऐसे राजाओं की पुन:स्थापना के लिये परवर्ती विद्वानों ने विधि नियमों का वर्णन किया है ।[4] इस अवसर पर निष्कासित राजा की पुनर्स्थापनाके लिये अग्नि में हवन छोड़ा जाता था ।[5] पुरोहित अग्नि देव से प्रार्थना करता था कि वह यजमान (हव्य प्रदान करने वाले का) का पथ प्रदर्शक बने ।[6] इस सूक्त के दूसरे मंत्र में सौत्रामणि यज्ञ का वर्णन है । व्हिटनी महोदय ने इस मंत्र को अस्पष्ट निरूपित किया है ।[7] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि राजा की पुन:-स्थापना के उत्सव में सौत्रामणि यज्ञ सम्पादित किया जाता

१- ३,३

२- प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत । ऐतरेय ब्रा० ३,३३

३- कौ० सू० १६,३० और उस पर दारिल

४- द्रष्टव्य ब्लूमफील्ड वही पृ० ३२८

५- आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि रातहव्यम् । ३,३,१

६- वही ३,३,१

७- यद् गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै ।
   सौत्रामण्यादधृषन्त देवा: ।। ३,३,२

था । इस अवसर पुर पुरोहित आशीर्वाद देता था कि "हे राजन्, वरुण तुम्हें जल के लिये बुलावें और सोम पर्वतों के लिये, इन्द्र तुम्हें प्रजाजन के लिये आवाहित करें और तुम बाज (पक्षी) बन कर प्रजा की ओर उड़ कर आओ ।[१] दूसरे के प्रदेश में निवास करते हुए तुमको बाज (श्येन) मार्ग दिखावे । अश्विनी कुमार राजा के लिये सुगम मार्ग को बनावें और उसके वंशज उसके चारों ओर निवास करें ।"[२] उक्त मंत्र में 'अन्य-क्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्' पद निश्चय ही राजा के देश निष्कासित स्थिति को द्योतित करता है । इसके बाद राजा के मित्र इसका चयन करते थे और यह कामना की जाती थी कि इन्द्र अग्नि और अन्य देवता उसके राज्य में सुरक्षा प्रदान करें ।[३] इस अवसर पर कुछ लोग सम्भवत: राजा का विरोध करते थे क्योंकि इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह उन्हें भगा दे तथा राजा को बुलावे । "जो तुम्हारे संबंधी तुम्हारे आवाहन का विरोध करते है और जो कोई पराये हो उन्हें दूर कर हे इन्द्र, इस व्यक्ति को यहां पुन: नियुक्त करो ।"[४] इसके अतिरिक्त अन्य सूक्तों[५] में भी श्रेष्ठ शासक की स्थापना का प्रसंग है । उसमें कथन है कि "हे राजन्, मैंने तुम्हे बुलाया है +

१- अदभ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्य: ।
इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्य: श्येनो भूत्वा विश आ पतेमा: ।। ३,३,३

२- श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम् ।
अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं सजाता अभिसंविशध्वम् ।। ३,३,४

३- ह्वयन्तु त्वा प्रतिजना: प्रति मित्रा अवृषत ।
इन्द्राग्नी विश्वेदेवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ।। ३,३,५

४- यस्ते हवं विवदत् सजातो यश्च निष्ट्य: ।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेम मिहाव गमय ।। ३,३,६

५- ६,८७-८८

तुम दृढ़ता से (सिंहासन) पर बैठो, अस्थिर मत बनो, सभी प्रजाजन तुम्हारी इच्छा करें और यह राज्य तुमसे च्युत न हो।[१] तुम ध्रुव और च्युत रहित होकर शत्रुओं का वध करो और उन्हें पैर के नीचे करो। सभी दिशायें तुम्हारा समर्थन करें और समिति तुम्हारे अनुकूल रहे।[२] इन बातों से स्पष्ट होता है कि राजा की सफलता और स्थिरता उसके प्रजाजनों, वंशजो और समिति की अनुकूलता और-अब पर ही निर्भर रहती थी, और इनको अनादर और अवहेलना करने वाला शासक पद-च्युत कर दिया जाता था।

(क) <u>राजा की सफलता के अभिचार</u> :- राजा युद्ध और शासन में सफलता के लिये अभिचारों का प्रयोग करता था। इस का दृष्टान्त एक सूक्त में प्राप्त होता है।[३] हे इन्द्र, इस क्षात्रिय की वृद्धि करो, इसे प्रजा में सबसे शक्तिशाली बनाओ, इसके शत्रुओं को प्रभाव रहित करो तथा उन्हें इसके वश में करो, मैं भी इसे (मन्त्रासामर्थ्य) से इन्द्रादि लोकपालों के मध्य में श्रेष्ठ बनाता हूं।[४] इस मंत्र से ज्ञात होता है कि इस विधि का सम्पादन पुरोहित कराया जाता था।[५] इसके पश्चात् पुरोहित कामना करता था कि इन्द्र राजा को गांवों, अश्वों, गऊओं

१- आ त्वाहर्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत्।
विशस्त्वा सर्वा वा छन्तु मा त्वद्राष्टमधि भ्रशत्॥ ६,८७,१

२- ध्रुवो च्युत: प्र मृणीहि शत्रून्छत्रूयतो धरान् पादयस्व।
सर्वा दिश: संमनस: सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समिति: कल्पतामिह॥
६,८८,३

३- ४,२२

४- इममिन्द्र वर्धय क्षात्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वास्तान् रन्धयास्या अहमुत्तरेषु॥ ४,२२,१

आदि से भाग दिलावे और उस नरेश को शासन के योग्य करे ।१ हे इन्द्र, यह राजा धनों का स्वामी और प्रजा का प्रजापति होवे । इसमें तेज प्रदान करो और इसके शत्रुओं को निस्तेज करो । हे द्यावापृथिवी, इसके लिये गाय के समान गर्म (ताजा) दूध दो, यह इन्द्र, गायों, पशुओं और औषधियों का प्रेमी बने । (हे राजन्, मैं तुम्हें) इन्द्र से संयुक्त करता हूँ जो श्रेष्ठता प्रदान करता है जिससे लोग जय प्राप्त करते हैं पराजय नहीं । तुम श्रेष्ठ हो और तुम्हारे शत्रु तुम्हारे वश में रहें । तुम एकराट् हो इन्द्र का मित्र, विजयी और विनोद में ही शत्रुओं का लाने वाले हो । सिंह का प्रतीक बन कर प्रजा का भोग करो और अपने व्याघ्र स्वरूप से शत्रुओं का वध करो ।२

१- एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य ।
वर्ष्म क्षत्राणाम यमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै ।।
४,२२,२

अय मस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा ।
१- अस्मिन्निंद्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रु मस्य ।।
४,२२,३

२- अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुघे इव धेनू ।
अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात् प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम् ।। ४,२२,४

युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते ।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ।।
४,२२,५

उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन् प्रतिशत्रवस्ते ।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा भरा भोजनानि ।
४,२२,६

सिंह प्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीको व बाधस्व शत्रून् । ४,२२,७

७. आधारभूत संस्थायें

वैदिककालिक आर्यों में राजतंत्र शासन में परिषदों का समावेश कर राजनीति विज्ञान के अत्यन्त रोचक और विशिष्ट विषय का सूत्रपात किया । इन्होंने न केवल राजा की निरंकुशता पर प्रतिबन्ध लगाया अपितु जनता को कुशल प्रवक्ता (सीनेटर) और योग्य राजनीतिज्ञ बनने में पर्याप्त प्रोत्साहन दिया । इन परिषदों में सभा, समिति और विदथ उल्लेखनीय हैं ।

(क) सभा और समिति :- सभा और समिति प्रजापति (विश्पति या शासक) की दो पुत्रियाँ कही गई हैं ।[१] विश् के अनुकूल चलने वाले[२] (शासक) का सभा और समिति अनुगमन करती थी ।[३] गाय रूप धारण करने वाली विराज शक्ति ने क्रमश: सभा और समिति में प्रवेश किया था ।[४] इन उद्धरणों से अवगत हो जाता है कि सभा और समिति दो संस्थायें थी ।[५] और उनका शासक से सीधा सम्पर्क था । दोनों को एक मंत्र में बहन बहन का संबंध बताया गया है ।

(ख) सभा का संगठन, कार्य और महत्व :- सभा एक स्थायी परिषद् थी ।[६] सायण ने सभा को विद्वान् पुरुषों का समाज कहा है ।[७] एक जातक ग्रन्थ में राग द्वेष और मोह

१- सभा च मां समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने । ७,१२,१

२- मंत्र में विश् का अनुगमन करने वाला विद्वान् व्रात्य है ।

३- स विशो नुव्यचलत् । तं सभा च समितिश्च....सेना च अनुव्यचलन् । १५, ६,१-२

४- सोदक्रामत् सा सभायांन्यक्रामत् । ८,१०,५

५- सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् । ८,१०,६ (१०)

६- हिल्ब्रान्ड और उनके समर्थक वैदिक इण्डैक्स, भाग २, पृ० ४२६-३०, के लेखक इस मत को नहीं मानते । परन्तु उक्त विवरण उनके मत को निराधार कर देते हैं ।

६- ७,१२,२ पर सायण नरिष्टा शब्द का अर्थ अहिंसिता करते हैं ।

७- वही ७,१२, विदुषां समाज:

को त्याग कर धर्म (न्याय) कहने वाले सन्तों को सभा का सदस्य कहा गया है ।[१] अथर्ववेद के एक मंत्र में यम के सभासदों के राजसी पद का वर्णन है और उन्हें यम को प्राप्त होने वाले यज्ञभाग के सोलहवें भाग का अधिकारी कहा गया है ।[२] इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि स्वर्गलोक की भांति मर्त्यलोक के सभासदों का भी पद राजसी श्रेणी का था । और वे भी राजा के कर (बलि) और शुल्क से प्राप्त होने वाली आय का कुछ भाग पाते थे ।[३]

उक्त प्रकरण में सभासदों का यम से सम्बन्ध इस तथ्य का द्योतक है कि उनका कार्य निर्णय आदि शासन के कार्यों से था । एक व्यक्ति सभा के सदस्यों का मत अपने अनुकूल होने की कामना करता है ।[४] इससे यह परिलक्षित होता है कि सभा का निर्णय प्रभावशाली होता था । सभासद राज्य से भाग पाता था इससे इनका पद वेतन भोगी अवगत होता है । लुडविग महोदय ने किल्बिषस्पृत पद के आधार पर सभा को न्याय करने वाली परिषद सिद्ध करते हैं ।[५] सायण ने (सभा

१- न सा सभा यत्थ न सन्ति सन्तो
   न ते संतो येन न भणान्ति धंमं ।
 रागं च दोसं च पहाय मोहं
   धमं भणान्ता च भवन्ति सन्तो ।। जातक ५,५०६

२- यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं +
   यमस्यामी सभासदः । ३,२९,१

३- अल्तेकर, अनन्त सदाशिव, प्रा० भा० शासन प०, पृ०११६-११७

४- ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः । ७,१२,२

५- दर ऋग्वेद, ३,२५४, मंत्र संख्या १०,७१,१०

(नरिष्टा) के निर्णय को अनुलंघनीय कहा है।[१] पृथिवी सूक्त के एक मंत्र में कथन है कि मैं पृथिवी पर स्थित गाँवों जंगलों, समाजों, सग्रामों और समितियों में सुन्दर भाषण करूँ।[२] इससे गांवों आदि की संस्थाओं पर पृथक पृथक प्रकाश पड़ता है। सभा के सदस्यों के मनोरंजन के लिये नृत्य आदि का भी आयोजन किया जाता था।[३]

इस काल में सभा का इतना महत्त्व था कि व्यक्ति वहाँ अधिक चातुर्य से भाषण करने की अभिलाषा करता था।[४] सभा में लोगों के मन को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये अभिचारों का भी प्रयोग किया जाता था। 'जो तुम सबका मन दूर चला गया है, जो यहाँ बाँध दिया गया है, उस मन वाले तुम लौटाये गये हो, तुम्हारा मन मुझमें रमा करे'।[५] एक दूसरे मंत्र से भी सभा में अभिचार करने का प्रसंग मिलता है[६]।

१- सभा का नाम नरिष्टा भी है 'विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि'। ७,१२,२

सायण ने इस नरिष्टा का भाष्य इस प्रकार किया है.

नरिष्टा अहिंसिता परैरनभिभाव्या।

एकस्य वचनं अन्यैरादियते ~~निरस्क्रियेत~~ तिरस्क्रियते पि बहव: सम्भूय यद्देकं वदेयुस्तद्धि न परैरतिलङ्घ्यम। अत: अनति लङ्घ्यं वाक्यात्वात् नरिष्टेति नाम सभाया युज्यते।''

२- ये ग्रामा यदरण्यं या: सभा अधिभूम्यां।
ये संग्रामा: समितयस्तेषु चारू वदाम्याहम्। १२,१,५६

३- इमाँ नरिष्टा नृत्यानि शरीरमनुप्राविशन्।। ११,८,२४

४- बृहद् वो वय उच्यते सभासु। ४,२१,६

५- यद वो मन: परागतं यद बद्धमिह वे वा।
तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मन:।। ७,१२,४

६- यां ते चक्रु: समायां। ५,३१,६

(ग) समिति का संगठन एवं कार्य :- समिति को प्राचीन साहित्य में युद्ध या संग्राम से समीकृत किया गया है। निरुक्त-कार यास्क ने समिति को संग्राम कहा है।[१] अमरकोश में समिति ट् का पर्याय है।[२] सायण ने समिति को युद्ध के लिये एकत्र लोगों की सभा कहा है।[३] अथर्ववेद में संग्राम शब्द समिति के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[४] इन सब विवरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि समिति प्रमुख रूप से युद्धकालीन सभा है। इसका संगठन किस प्रकार होता था यह स्पष्ट नहीं है। परन्तु राज्य की सुरक्षा से उसका सम्बन्ध होने के कारण राजा को उसकी अनुमति स्वीकार करनी पड़ती थी। फलच्युत राजा के पुनः राज्यारोहण के अवसर पर पुरोहित आशीर्वाद देता था कि समिति निश्चित रूप से उसके अनुकूल हो।[५] ब्राह्मण पर आतंक करने वाले शासक के लिये घोर शाप दिया जाता था कि समिति उसके विरुद्ध रहे।[६] राजा के लिये समिति उतनी ही आवश्यक समझी जाती थी जितना यज्ञिय के लिये यज्ञ और सुरा के लिये पात्र।[७] समिति का कार्य शासक का निर्वाचन और पुनर्निर्वाचन करना था। एक स्थान में समिति की एकता

१- रणः समितिः संग्राम नामानि । १,२

२- समित्याजिसमिद्युधः । अमरकोश २,८,२१०

३- सायण, सूक्त ७,१२ पर 'संग्रामिण जनसभा' और 'संयन्ति संगच्छन्तो युद्धाय अत्रेति संग्रामः'

४- ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदाम्यहम् ।। १२,१,५६

५- ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह । ६,८८,३

६- नास्मै समितिः कल्पते । ५,१९,१५

७- ऋग्वेद ६, ९२,७

और समान मंत्रणा के लिये किये गये प्रयोग का उद्धरण मिलता है ।[1]

समिति के सदस्य को सामित्य कहा जाता था ।[2] एक मंत्र में राजाओं, राजकृतों, सूतों, और ग्रामणी का वर्णन है । इसमें इन्हें अपने अनुकूल बनाने के लिये अभिचार किया गया है ।[3] इससे प्रतीत होता है कि कदाचित् ये लोग समिति के सदस्य थे । इस संबंध में डा: अल्तेकर का मत उल्लेखनीय है । उनका कथन है कि वैदिककाल के राज्य रोम के नगर राज्यों की भांति छोटे छोटे होते थे । अत: सम्भव है कि समाज में प्रमुख स्थान रखने वाले योद्धा या प्रतिष्ठित परिवारों के गृहपति ही समिति के सदस्य रहे हों । इस युग में पुरोहित भी युद्ध क्षेत्र में महत्व रखता था । अत: समिति में वह रहा होगा ।[4] राजा के निर्वाचन में उसके सजातों (वंशजों) का भी हाथ था[5] । अत: ये भी सदस्यता प्राप्त किये होंगे । सामित्यों की यह महत्व-पूर्ण स्थिति परवर्ती काल के सामन्तों के बहुत कुछ अनुरूप है ।

१- समानो मंत्र: समिति: समानी समानं व्रतं सह
   चित्तमेषाम् ।
   समानेन वो हविषा जुहोमि ।। ६,६४,२

२- यन्त्कस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद । ८,१०,६

३- उद्धृत पूर्व - ये राजानो राजकृत: सूता ग्रामण्यश्च ये ।
   उपस्तीन पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ।।
   ३,५,७

४- अल्तेकर, ए० एस० प्रा०भारतीय शासन पद्धति, पृ०११८

५- अच्छ त्वा यन्तु हविन: सजाता । ३,४,३

(घ) <u>विदथ</u> :- व्हिटने महोदय विदथ को कौन्सिल कहते हैं ।[1] विदथ धार्मिक संस्था भी ज्ञात होती है । इसके प्रबन्धकों को देव कहा गया है ।[2] यह स्वर्ग का ज्ञान कराने वाली संस्था कही गई है ।[3] इसमें स्त्री पुरूष समान रूप से भाग लेते थे ।[4] इस प्रकार विदथ जन सामान्य की सभा ज्ञात होती है जहां यज्ञादि धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान होता था ।

(ङ) <u>राज्य के कर्मचारि</u> :- अथर्ववेद में राजा के कई कर्मचारियों के संबंध में विवरण प्राप्त होता है ।

<u>सूत</u> :- अथर्ववेद में सूत का नाम ग्रामणी के साथ में उल्लिखित है । अन्य संहिताओं ने उसे रत्नियों की सूची में उद्धृत किया गया है ।[5] इससे सूत राज कर्मचारी सिद्ध होता है । भाष्यकारों ने सूत को राजा का सारथी या राज-अश्वों का स्वामी स्वीकृत किया है । इसी मत के समर्थक रौथ[6] व्हिटने[7] और ब्लूमफील्ड[8] भी हैं । वैदिक इन्डैक्स के लेखक उक्त मत

१- अथर्व० संहिता का अनुवाद, पृ० ७४४

२- यदुस्त्रियास्वाहुतं घृतं पयोयं स वामश्विना भाग आगतम् । माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं घर्मं पिबत रोचने दिवि ।। ७,७३,४

३- दिर्थं स्वर्विदं,१८,१,१५, होतारं विदथाय जीनन् ।१८,१,२०

४- गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो त्वं विदथमा वदासि । १४,१,२०

५- ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये । ३,५,७
इसी प्रकार पंचविंश ब्राह्मण(६,१,४) में उल्लिखित आठ वीरों में भी इसका नाम है । जहां वह महिषी के बाद तथा ग्रामणी के पूर्व में है ।

६- काठक संहिता, २,६,५

७- सेन्टपीटर्सबर्ग डिक्शनरी, सूत

७- व्हिटने, अथर्व० सं०, पृ० ६२

८- सै०बु० आफ द ईस्ट, भाग ४२, पृ० ११४

की अवेहलना इस बात से करते हैं कि वैदिक काल में सारथि को संग्रहितृ कहा जाता था सूत नहीं । वे उसे राज्य का एक कर्मचारी मानते हैं जो भाट या गवैया का काम करता था ।[१] इसी मत के समर्थक एग्लिन्[२] तथा घोशाल[३] महोदय भी हैं । इनमें तथ्य जो भी हो, सूत अथर्वकाल का एक राजनीतिक महत्त्व का व्यक्ति प्रतीत होता है ।

स्थपति :- स्थपति का उल्लेख कृमि-नाशक के प्रसंग में हुआ है ।[४] स्थपति सामान्यतया राजकर्मचारी कहा जाता था । वैदिक काल में इसका क्या पद था, कहना कठिन है । त्सिमर महोदय इसे उच्च न्यायाधीश से समीकृत करते हैं[५] तथा कीथ और मैक्डानल गवर्नर से जिसमें न्यायिक और प्रशासकीय दोनों शक्तियां निहित थी ।[६]

क्षत्तृ :- भाष्यकार महीधर ने इसे प्रतिहार[७] और सायण ने अन्तः पुराध्यक्ष[८] माना है । व्हिटने महोदय इसका

१- वै० इं०, भाग २, पृ० ४६२-६३ (अंग्रेजी)

२- सै० बु० आफ द ईस्ट, भाग ४१, पृ० ६२, नोट १

३- घोशाल, यू०एन० - इं०हि०क्वा०, १९४४, मार्च, पृ०११२

४- हतो राजा कृमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः । २,३२,५ एवं ५,२३,११ भी द्रष्टव्य

५- वेबर - इन्डिशे स्तूडियन, १०,१३, नोट ३,१३

६- कात्यायन श्रौतसूत्र, १,१,१२
वै० इं०, भाग २, पृ० ५३८-३९

७- महीधर - वाजसनेयी सं० ३०,१३

८- सायण - श०प०ब्रा० ५,३,१,६ पर क्षत्ता नाम यष्टिहस्तोऽन्तः पुराध्यक्षः ।

अर्थ 'विभाजक' करते हैं ।[1] एक मंत्र में ये धन को ले आने वाले तथा एकत्र करने वाले कहे गये हैं ।[2] दूसरे प्रसंग में ये अतिथि को भोजन वितरण करते हुए वर्णित हैं ।[3] ऋग्वेद में यह देवों के उपासकों को अच्छी चीजें बांटने वाले के रूप में वर्णित किया गया है ।[4] इस प्रकार क्षत्तृ एक ऐसा राजकर्मचारी ज्ञात होता है जो सामान्य रूप से 'वितरण' का काम करता था ।

परिवेष्ट्री :- परिवेष्ट्री हाथ में पात्र लिये हुये अतिथि को भोजन परोसता हुआ उल्लिखित है ।[5] इसका उल्लेख केवल एक ही मंत्र में हुआ है । यह कदाचित् सेवक काम करता था ।

पुरोहित :- अथर्ववैदिक राजनीति में पुरोहित का अत्यन्त महत्व पूर्ण स्थान था । वह राज्य का नैतिक और धार्मिक नेता था । युद्ध और शान्ति के समय वह एक कुशल राजनीतिज्ञ की भांति राजा का परम सहायक था । एक सूक्त[6] में वह शत्रुओं से राजा की संरक्षा के ~~लिए~~

१- व्हिटनी मंत्र ३,२४,७ का अनुवाद

२- उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते ।
तोविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ।। वही ३,२४,७

३- यत् क्षत्तारं ह्वयत्या श्रावयत्येव तत् । ९,६,४९

४- ~~त्वं भगो न आ हि रत्नमिषे~~ त्वं भगो न आ हि रत्नमिषे परिज्मेव क्षयसि दस्मवर्चाः ।
अग्ने मित्रो न बृहत ऋतस्यासि क्षत्ता वामस्य देव भूरेः ।
ऋग्वेद ६,१३,२

५- यत् परिवेष्टारः पात्रहस्ताः पूर्वे चापरे च ।
प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते ।। ९,६,५१

६- संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम् ।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः । ३,१९,१

के लिये अभिचार करता हुआ प्रतीत होता है। "यह मेरा इन्द्रजाल (ब्रह्म), वीर्य और बल तीक्ष्ण कर दिया गया है। मैं जिनका पुरोहित हूं उनके लिये राष्ट्र, पौरूष पराक्रम और बल को पूर्ण रूप से तीक्ष्ण करता हूं, मैं इस हविस् से शत्रु को भुजाओं को काटता हूँ, जो हमारे प्रभूत धन वाले और कार्य तथा अकार्य को जानने वाले राजा का शत्रु है उसका पतन हो और वह निम्न श्रेणी का हो जाए। मैं अपने ब्रह्मन् से शत्रुओं का विनाश करता हूँ और अपनी सेना की वृद्धि करता हूँ।"[1] इस प्रकार पुरोहित युद्ध के समय सेना की विजय के लिये उपचार किया करता था। वह इन्द्र से प्रार्थनन करता था कि मेरी ध्वजा धारिणी सेना का जयघोष गगन भेदी हो।[2] वह युद्धभूमि में सेना को प्रोत्साहित करता था, "हे वीरो, आगे बढ़ो तुम्हारी भुजाये उग्र रूप धारण करें। तुम्हारे तीक्ष्ण किये हुये बाणों से निर्बल धनुधारियों का बध हो और अपने उग्र आयुध तथा प्रचंड भुजाओं से निर्बलों को आहत करो।"[3]

१- सहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ।। ३,१६,२
नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ।। ३,१६,३

२- पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम् ।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ।। ३,१६,६

३- प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः ।
तीक्ष्णेषवोऽबल धन्वनो हतो ग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ।
३,१६,७

इसी प्रकार राजा की विजय के लिये अथर्ववैदिककाल का पुरोहित और भी कई विधियों का प्रयोग करता था। कई सूक्तों में [1] शत्रुओं पर विजय के लिये ~~मनु~~ मन्यु देव से प्रार्थना की गई है। ऐसे अवसर पर पुरोहित सेना को प्रोत्साहित करता था।[2] इसी प्रकार कौटिल्य[3] ने भी विजय के लिये अथर्ववेद की ही भाँति अभिचारों की सूची दी है। पुरोहितों का युद्ध संबंधी कार्य कोई आश्चर्य जनक नहीं है। मनु ने वेदशास्त्र के ज्ञाताओं को सैनापतित्व, राज्य एवं दण्डनेतृत्व के काम के लिये योग्य कहा है।[4] पुरोहित के महत्व के विषय में डा० अनन्त सदाशिव अल्तेकर का कथन है कि पुरोहित का वैदिक काल के रत्नियों में प्रमुख स्थान था और वह मंत्री परिषद्

१- सूक्त, ४,३१,४,३२, इसी प्रकार सूक्त ६,६७ युद्ध का अभिचार है, सूक्त १,२६ सैनिकों की सुरक्षा के लिये तथा ३,१ शत्रुओं को उन्मत्त बनाने के लिये है। सूक्त १,२ बाण को सब जगह भेजने के लिये प्रयुक्त होता था। शत्रुओं को फाँस में बाँधने के लिये सूक्त ३,६ का प्रयोग किया जाता था। ब्लूमफील्ड (सें०बु० आफ द ईस्ट, भाग ४२, पृ० ५८२) ने सूक्त ८,८ को युद्ध गान माना है जो शत्रुओं के मार्ग में बाधा पहुंचाने के लिये प्रयुक्त होता था। कौशिक (१४,१४) ने सूक्त १,२७ को शत्रुओं को अन्धा करने के कृत्य के लिये विधान किया है।

२- वही सूक्त ४,३१,३,१९

३- दीक्षितार - वार इन ए० इं०, पृ० ८६
कौटिल्य अर्थशास्त्र १४,१४६

४- सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ।। मनुस्मृति
१२, १००

का सदस्य था। वह राजा का सुह्र गुरू और अपने चमत्कार युक्त अभिचारों द्वारा शत्रुओं से राज्य की रक्षा करने वाला था।[1] प्रो० ए०सी० दास के मत में वह एक शक्तिशाली और योग्य व्यक्ति था, वेह दैवी शक्तियों मे मानवों का कल्याण देखता था। उसने बिखरे हुये गाँवों का एक संघ बनाया और उसका निर्देशन किया।[2] इस प्रकार इन्द्रजाल और अभिचार युक्त अथर्ववैदिक काल में पुरोहितों की दैनिक आवश्यकता होती थी और इसलिये राजनीति पर उनका प्रभाव रहना स्वाभाविक था।

(च)ग्राम संगठन :- कई परिवारों के संगठन से गाँव बनता था। परिवार के गृहपति का अधिकार प्राय: राजा के ही समान था। अत: ग्रामसंगठन का विकास संयुक्त-कुटुम्ब से हुआ है जैसे गृहपति का आदर और मान होता था ग्राम के मुखिया और जनपति भी परम्परागत सम्मान के भाजन हुये। एक मंत्र से ग्राम स्थापना की ओर संकेत मिलता है।[3] इससे ज्ञात होता है कि नये नये गाँव भी बस रहे थे।

गाँव को ग्राम कहा जाता था।[4] त्सिमर महोदय तत्कालीन ग्राम को कुटुम्ब और विश् के बीच की श्रृंखला मानते हैं।[5]

१- अल्तेकर - स्टेटस् एण्ड गवर्नमेंट इन ऐं०इं०, पृ० १६८

२- दास, ए० सी० - ऋग्वैदिक कल्चर, पृ० ३०४

३- परि ग्राममिवाचितं वचसा स्थापयामसि। ४,७,५
उक्त मंत्र वरणावति पौधे की स्थापना के प्रसंग में आया है।

४- यं ग्रामाविशत इदमुग्र सहस्र सहोमम। ४,३६,८

५- आल्टिन्डिशे लैबेन, १५६-६०, जहाँ भाषा बहुत स्पष्ट नहीं है।

इन गाँवों पर राजा का शासन होता था। एक मंत्र में एक शक्तिशाली व्यक्ति द्वारा गाँवों और गायों को जीतने का उल्लेख हुआ है।[१] इन गाँवों पर राजा की सदा दृष्टि लगी रहती थी। एक स्थल पर राजा के क्रोध से अपने गाँव की रक्षा चाहने वाले लोगों का वर्णन है।[२] वह गाँव और उसके घोड़ा तथा गायों में से हिस्सा पाता था।[३] गाँवों में सूचना प्रसारित करने के लिये एक नगाड़ा होता था जिसे ग्रामघोषी कहा जाता था।[४] मृतकों के शव को गाँव से बाहर विसर्जित किया जाता था।[५] गाँवों की सुरक्षा पर सतत ध्यान दिया जाता था और शत्रुओं को मार भगाया जाता था।[६] गाँवों का जीवन सुखी था। उनकी अलग परिषदें थी जिन्हें सभा कहा जाता था।[७] इन परिषदों में सामाजिक वाद विवाद होते थे

१- इमं वीरमनु.......ग्रामजितं गोजितं... प्रमृणन्तं।
६,६७,३

२- अस्मै ग्रामाय.....ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति सविता नः कृणोतु।
अन्यत्र राज्ञामभियातु मन्युः। ६,४०,२

३- एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु। ४,२२,२

४- ग्रामघोषी ५,२०,६ व्हिटने, पृ० २५६ भी

५- अपेम जीवा अरुधन् गृहेभ्य
स्तं निर्वहत परि ग्रामादितः। १८,२,२७

६- ग्रामान् प्रच्युता यन्तु शत्रवः। ५,२०,३

७- ये ग्रामा यदरण्यं या सभा अधिभूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदाम्यहम्।। १२,१,५६

गाँव उद्योग धन्धों के प्रमुख केन्द्र थे। गाँव में ही रथ बनाने वाले (रथकार), बढ़ई का काम करने वाले (तक्षन्) और धातु का सामान बनाने वाले कर्मार लोग रहा करते थे।

गाँवों में कृषि की उत्तम व्यवस्था थी लेकिन भूमि व्यवस्था का कोई निश्चित स्वरूप नहीं ज्ञात होता है। फिर भी खेतों पर वैयक्तिक अधिकार था। खेतों को क्षेत्र कहा गया है। एक स्थान पर अपने खेत में स्वस्थ होकर सुशोभित होने का प्रसंग प्राप्त होता है।[1] इससे निजी खेत के स्वामित्व का आभास मिलता है।

८. शासन प्रबन्ध :- अन्य तथ्यों की भाँति शासन व्यवस्था के विषय में भी यद्यपि स्पष्ट विवरण नहीं मिलता है फिर भी अथर्ववेद के विश्लेषण से शासन के विषय में कुछ ज्ञान हो ही जाता है।

(क) राजस्व :- राजा को प्रजा की ओर से कर मिलता था। इस काल में कर के लिये व्यवहृत होने वाले शब्दों में बलि और शुल्क शब्द प्राप्त होते हैं।

(१) बलि :- बलि एक नियत कर था जिसे सभी लोग राजा को देते थे। सायण ने भी बलि का अर्थ कर या उपायन किया है।[2] उन्होंने कर के रूप में दी जाने वाली वस्तुओं में हिरण्य (सुवर्ण), रजत (चांदी), मणि, मुक्ता, हाथी (करिन्), घोड़ा (तुरग) और अन्य उत्कृष्ट पदार्थों का उल्लेख किया है।[3] अथर्ववेद के अनुवादक व्हिटने महोदय

१- स्व क्षेत्रे अनमीवा वि राज। ११,१,२२ व्हिट्ने पृ० ६१६

२- सायण भाष्य मंत्र ३,४,२ पर बलिम् उपायनं करं वा

३- हिरण्यरजतमणिमुक्ताकरितुरगाद्युत्कृष्टपदार्थमयीम् बलिम्। सायण मंत्र १६,४५,४ पर

करने वाला शासक ही सुचारू रूप से शासन चला सकता है । इसी कारण अथर्ववैदिक पुरोहित राज्याभिषेक के अवसर पर प्रभूत कर प्राप्त करने के लिये राजा को आशीर्वाद देता था ।[2] एक मंत्र में रक्षा करने वाले व्यक्ति[3] (सम्भवत: शासक[4]) के हाथ में चारों दिशाओं से लाई गई आंजन मणि बांधने का प्रसंग है । यह मणि राजा को सभी दिशाओं से अभय, सविता देव की स्थिरता और प्रजा से कर (बलि) प्रदान कराने वाली कही गई है ।[5] एक दूसरे प्रसंग में ब्रह्मौदन सव करने वाले को पुरोहित आशीर्वाद देता है कि यह शाला[6] तुम्हारे लिये सजातों (वंशजों) को कर (बलि) लाने वाला करे ।[7] पुन: इसी प्रसंग में ब्राह्मण पुरोहित कहता है कि तुम्हारे उपायन द्रव्य[8] लाने के लिये उन सजातों को मैं तुम्हारे समक्ष लाया हूं ।[9] इससे ज्ञात होता है कि शासक के समान

१- व्हिटने अथर्ववेद का अनु० पृ० ८६, द्रष्टव्य हिन्दू रेवन्यू सिस्टम, यू०एन० घोषाल, पृ० ५-६ सं०१६२६

२- अहं बलिं प्रति पश्यासा उग्र: । ३,४,२

३- 'रक्षाफलकाम' सायण वही मंत्र १६,४५,४

४- क्योंकि इस मंत्र की वर्णन प्रणाली (ध्रुवस्तिष्ठसि सवितेव च) और सूक्त ६,८८ (ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पति: ६,८८,२) की भांति है । सूक्त ६,८८, का प्रयोग राजा की स्थिरता के लिये किया गया है (कौ०सू० ५६,१३,)

५- चतुर्वीरं बध्यत आ जनं ते सर्वा दिशो अभयास्ते भवन्तु । ध्रुवस्तिष्ठसि सवितेव चार्य इमा विशो अभिहरन्तु ते बलिम् ।। १६,४५,४

६- मंत्र ११,१,६ पर सायण द्रष्टव्य

७- इयं मात्रा मीयमाना मिता च सजातांस्ते बलिहृत: कृणोतु । ११,१,६

८- अमूंस्त आ दधामि प्रजया रेषयैनान् बलिहराय ।११,१,२०

६- इदम् [illegible] मध्ये तस्मै [illegible] राष्ट्रभृतो [illegible] ।

कुल के लोग कर एकत्र करते थे । कर एकत्र करने वाले और उसके अधिकारी श्रेष्ठ समझे जाते थे। क्योंकि स्कम्भ देव की श्रेष्ठता के वर्णन में कथन है कि उसके लिये राष्ट्रभृत् (राजा) लोग भी बलि धारण करते हैं ।[1] स्कम्भ को देवगण सदा कर दिया करते थे ।[2] देवताओं को हवि के रूप में बलि दी जाती थी ।[3] आहुति प्रेमिका अरुंधति को[4] तथा भूमि को[5] भी बलि प्रदान की गई है । और अग्नि देव प्रतिदिन बलि ग्रहण करते थे ।[6]

(ख) शुल्क :- कर के रूप में एक दूसरा शब्द शुल्क प्राप्त होता है । बलि चाहे स्वेच्छा से दिया जाता हो या किसी कारण बाध्य होकर परन्तु शुल्क तो बलपूर्वक और अनिवार्य रूप से एकत्र किया जाता था । एक मंत्र से ज्ञात होता है कि स्वर्ग ही एक ऐसा स्थान था जहां बलवानों द्वारा निर्बलों से शुल्क नहीं लिया जाता था ।[7] ये

१- महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति । १०,७,

२- यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति । १०,७,३६

३- सायण मंत्र ११,१०,५ पर

४- अयं बलिर्व आहुतस्त्रिषंधेराहुतिः प्रिया । ११,१०,५

५- वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम । १२,१,६२

६- अहरहर्बलिमित्ते हरन्तो श्वायेव तिष्ठते घासमग्ने । १६,५५,६

७- स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे । ३,२६,३

कर पुरोहित या ब्राह्मण नहीं देता था। क्योंकि एक मंत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो राजा ब्राह्मणों से शुल्क की इच्छा करता है वह रक्त की नाली में रहते हुये केशों का भक्षण करता है।[१] कर के रूप में अन्य लोगों से गायें, घोड़े आदि भी लिये जाते थे।[२]

(३) राजस्व का वितरण :- एक मंत्र से प्रतीत होता है कि यम के सभासद इष्टापूर्त का सोलहवां भाग प्राप्त करते थे।[३] इसके बाद के मंत्र में शुल्क का वर्णन है। इनके आधार पर कहा जा सकता है कि पार्थिव राजा के बलि एकत्र करने वाले सजात भी राजस्व का कुछ भाग प्राप्त करते थे।

(४) राजस्व प्रणाली की आलोचना :- अथर्ववैदिक काल में ब्राह्मण पौरोहित्य कर्म में लगे थे और वे कर व्यवस्था से प्राय: मुक्त थे। क्षत्रिय लोग शासक वर्ग के होते थे और नये नये राज्यों के विजेता तथा कर ग्रहण करने वाले होते थे। शूद्रों की सम्भवत: कोई सम्पत्ति नहीथी। इस प्रकार समस्त कर भार वैश्यों पर ही पड़ता था।[४] वैश्य लोग

१- ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन् ये वास्मिञ्छुल्कमीषिरे।
अस्नस्ते मध्ये कुल्याया: केशान् खादन्त आसते। ५,१९,३
द्रष्टव्य ब्लूमफील्ड - सै० बु० आफ द ईस्ट, भाग ४२, पृ० १७१ और ४३३ जहां उन्होंने शुल्क शब्द को स्वीकृत किया है।

२- यह वर्णन ब्रह्मगवी सूक्त में है (५,१९) जहां ब्राह्मण की गाय अन्य लोगों द्वारा अग्राह्य कही गई है।

[२]- एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य। ४,२२,२

३- यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासद:। ३,२९,१

४. श० ब्रा० ११, २, ६, १४ मे वैश्य को बलि देने वाला कहा गया है। 'अन्यस्य बलिकृत'

हो ~~व्यापार~~ व्यापार, कृषि और पशुपालन करते थे।
विश् शब्द प्रजाजन और अधिकांश रूप में वैश्यों का द्योतक
था। इस लिये एक मंत्र में सिंह रूपी राजा को विशों
का भोक्ता कहा गया है।[१] इस पद के अतिरिक्त
'विशामत्ता' शब्द भी प्राप्त होता है। इस के आधार
पर प्रो० हौपकिन्स ने वैदिक कर प्रणाली को विनाश-
कारी और जनता को पीसेन वाली कहा है।[२] परन्तु
उनका मत उक्त पदों के शाब्दिक अर्थ पर आधारित है।[३]
'विशामत्ता' का अर्थ प्रजा का भक्षण करने की अपेक्षा
~~प्रजा~~ प्रजा का उपभोग करने वाला अर्थात् इन पर शासन
करने वाला उचित है। वैदिक इन्डेक्स के लेखक इस का
विश्लेषण इस प्रकार करते हैं कि प्राचीन काल की
प्रजा राजा और राज परिवार को खिलाती थी।[४]
जो कुछ भी हो अथर्वकालिक प्रजा शासक से इतना विवश
नहीं थी। शासक का पद ही स्वयं निर्वाचित था और
प्रजा को उसके अनुकूल होने की शुभकामना की जाती थी।
इस प्रकार हौपकिन्स महोदय का मत पूर्ण रूप से यथार्थ
नहीं प्रतीत होता है।

१- सिंह प्रतीको विशो अद्धि सर्वा। ४,२२,६
व्याघ्रप्रतीकोवबाधस्व शत्रून्।। ४,२२,६

२- हौपकिन्स - इन्डिया ओल्ड एण्ड न्यू, पृ०२४०

३- ~~अल्ले~~ द्रष्टव्य अल्तेकर, ए०एस० - स्टेट एण्ड गवर्नमेंट
इन ए० इं०, पृ० २६३, १९५८

४- वै०इं० भाग 2, पृ० 236 (हिन्दी)

(ख) सेना तथा आरक्षा :- सैनिक प्रशासन का स्वरूप तथा उसके संगठन का भी विवरण प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध नहीं है। परन्तु इतना निश्चित है कि प्रत्येक राज्य में एक संगठित सेना रहती थी।

(१) सेना का संगठन :- एक प्रकरण में कहा गया है कि जब व्रात्य ने विशृ का अनुगमन किया तो सेना ने व्रात्य का अनुगमन किया।[1] अतः इससे प्रतीत होता है कि सेना विशृपति (प्रजापति) के अनुकूल रहती थी।[2] अन्यत्र योद्धाओं से ग्राम और गायों के विजेता वीर (राजा) का अनुगमन करने के लिये कहा गया है।[2] इससे ज्ञात होता है कि सेना का प्रधान राजा ही होता था। वह अपने पराक्रम से ही शासन करता था तथा शत्रुओं के लिये व्याघ्र के समान भयावह था। सेना के अन्य अधिकारियों के बारे में कुछ विवरण नहीं मिलता। कुछ विद्वानों ने ग्रामणी को टोली नायक (ट्रूप लीडर) कहा है।[3] परन्तु अथर्ववेद के आधार पर ग्रामणी की यह उपाधि सिद्ध नहीं होती।

सेना को शत्रु सेना से पृथक करने के लिये उसका एक निश्चित ध्वज (केतु) रहता था। एक स्थल में ध्वज धारिणी सेना के पृथक जयघोष का विवरण है।[4] दूसरे

१- स विशोनु व्यचलत्। तं.....सेना च सुराचानु- व्यचलत्।। १५,६,१-२

२- इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्र मिन्द्र सखायो अनु संरभध्वम्। ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा।। ६,९७,३

३- वै० इं० भाग १, पृ०

४- पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्तः उदीरताम्। देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया।। ३,१९,६

मंत्र में सूर्य पताका वाली देव सेना से विजय की अभिलाषा प्रगट की गई है ।[१] त्रिषन्धि की सेना लाल पताका वाली कही गई है ।[२]

(२) शस्त्रास्त्र :- एक युद्ध से संबंधित सूक्त में धनुष, बाण, तलवार, परशु, त्रिषन्धि, उदार आदि शस्त्रास्त्रों का वर्णन मिलता है ।[३]

त्रिषन्धि :- सायण त्रिसन्धि को संधान युक्त वृत्रायुध से समीकृत करते हैं ।[४] व्हिटने महोदय[५] ने इसे तीन जोड़ों का शस्त्रास्त्र स्वीकृत किया है । शिन्दे महोदय ने अर्बुदि, न्यर्बुदि और त्रिषन्धि को दोप्यास्त्र स्वीकार किया है ।[६]

उदार :- यह एक विस्फोटक अस्त्र था जो देखने में छोटा होता था परन्तु इसमें जलाने की भारी शक्ति होती थी । इसे आग्न्यास्त्र कहा जा सकता है ।[७]

असि :- तलवार को असि कहा जाता था ।[८]

धनुषबाण :- बाण को इषु और धनुष को धन्वा कहा जाता था ।[९]

१- एता देवसेना सूर्यकेतवः सचेतसः ।
अमित्रान् नो जयन्तु स्वाहा ।। ५,२१,१२

२- ईशां वो वेद राज्यं त्रिषन्धे अरुणैः केतुभिः सह ।
११,१०,२

३- सूक्त ११,६ मंत्र ११,६,१

४- सायण उक्त सूक्त ११,६ पर

५- व्हिटने अथर्ववेद सं०,पृ० ६६६ और ६५६

६- रेलिजन एण्ड फिलोसफी आफ द अथर्ववेद, पृ०६४, पूना १९५२

७- उदारांश्च प्र दर्शय ।। ११,६,१

८- असीन् परशूनायुधं चिताकूतं च यद्धृदि । ११,६,१

९- ये बाहवो ये इषवो धन्वनां वीर्याणि च । ११,६,१

परशु :- उस समय के शस्त्रों में कुल्हाड़ी भी थी । यह युद्ध के अतिरिक्त वृक्ष आदि काटने के काम में भी आती थी ।

(३) सैनिकों की वेशभूषा :- सैनिक उक्त शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रहता था और अपनी रक्षा के लिये कवच भी पहनता था ।[१]

(४) युद्धकला :- युद्ध में इन्द्रजाल आदि प्रयोगों के अतिरिक्त मनुष्य का विज्ञान भी काम करता था । एक मंत्र में 'कूट' शब्द का उल्लेख है जो विरोधी सेना को हजारों टुकड़ों में बांट कर वध करने वाला कहा गया है ।[२] यह कूट शत्रु के मार्ग में बाधा उत्पन्न करता है । दीक्षितार महोदय कूट को छिपकर युद्ध करने की एक विधि मानते हैं ।[३] रथ पर चढ़े सैनिकों द्वारा और पैदल सैनिकों द्वारा युद्ध किया जाता था ।[४] युद्ध का परिणाम अत्यन्त भयंकर होता था । बहुत से वीर मारे जाते थे और उनकी स्त्रियाँ करुण क्रन्दन करती थीं ।[५] अर्बुदि द्वारा मारे गये व्यक्ति

१- मर्माणि ते वर्मणा छादयामि । ७,११८,१

२- अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः । ८,८,१६

३- दीक्षितार वार इन ए० इं०, पृ० ८४

४- ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः ।
सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ।।
११,१०,२४

५- प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु ।
विकेशी पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव । ११,६,७

की स्त्री बालों को बिखरा कर और छाती पीट पीट कर रोती थी । युद्धभूमि में वीरों का शव गीध और बाज आदि पक्षी खाते थे ।[१]

(५) गुप्तचर विभाग :- वैदिक काल का आदर्श शासक राजा वरुण समझा जाता था । एक सूक्त में वरुण की स्तुति की गई है ।[२] इस सूक्त से तत्कालीन गुप्तचर विभाग के कार्य कलाप पर प्रकाश पड़ता है । वह इस प्रकार है ।

"महान् अधिष्ठाता देव जो कुछ भी छिप कर विचार किया जाता है उसे समीप से देखता है और उसे यह सब देवता गण जानते हैं । जो कोई खड़ा होता है, चलता है, और जो कोई वंचना करता है, जो छिप कर चलता है और जो आतंक करने वाला है, दो मनुष्य साथ में बैठ कर जो बातें करते हैं उन सब को राजा वरुण तीसरा होकर देखता है ।"[३] उक्त

उक्त उद्धरण में राजा वरुण के सुसंगठित शासन का स्वरूप मिलता है जिसमें कोई भी षड्यंत्र सफल नहीं हो सकता था । राजा वरुण स्वयं उनका पता लगाता था । वरुण ने अपने कार्य को सरल बनाने के लिये

१- सर्वानदन्तु तान हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ।
११,१०,२४

२- सूक्त ४,१६ यह सूक्त दैवी शक्ति के विषय में स्पष्ट और सुन्दर रूप प्रस्तुत करता है । अपनी इसी रोचकता के कारण यह बहुत से विद्वानों को आकर्षित करता है द्रष्टव्य व्हिटने अथर्व० सं०, पृ० १७६

३- बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति ।
य स्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः ।। ४,१६,१
यस्तिष्ठति चरति यश्च व चति यो निलायं चरति ।
यः प्रतङ्कम् । द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः । ४,१६,२

गुप्तचरों की भी नियुक्ति की थी । गुप्तचरों को 'स्पश' कहा जाता था । वे आकाश में स्थित होकर अपनी हजारों आँखों से पृथिवी की ओर देखते थे ।[१] झूठ बोलने वालों को वरुण का पाश नष्ट करने वाला तथा सत्यवादियों की रक्षा करने वाला कहा गया है ।[२] झूठ बोलने वाला वरुण के सौ पाशों से बाँधा जाता था ।[३] सविता देव भी षड्यंत्र कारियों के विनाश कर्ता कहे गये हैं ।[४] एक देव (सम्भवत: सोम) के उत्साही गुप्तचर (स्पश) अपने नेत्रों को कभी भी बन्द नहीं करते हुए कहे गये हैं तथा वे पग पग पर अपराधियों को पाश से बाँधने के लिये तत्पर रहते थे ।[५] एक अन्य मंत्र में भी कथन है कि देवताओं के गुप्तचर न तो किसी स्थान पर रूकते हैं और न तो नयनोन्मेष करते हैं।[६] देवों केन शासन का यह आदर्श तत्कालीन राजनीति को शायद ही अछूता छोड़ा हो । ये बाते अप्रत्यक्ष रूप से राजा के संगठित और सक्रिय शासन विभाग पर प्रकाश डालती हैं ।[७]

१- दिव स्पश: प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् । ४,१६,४

२- छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं य: सत्यवाद्यति तं सृजन्तु । ४,१६,६

३- शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्ष: । ४,१६,७

४- देव: सविताभियातिषाह: । ५,३,६

५- तस्य स्पशो न निमिषन्ति भूर्णय: पदे पदे पाशिन: सन्ति सेतवे ।। ५,६,३

६- न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति । १८,१,६

७- घोषाल, यू०एन० - इं०हिं०क्वा०, मार्च १९४४, पृ० ११०

(६) अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध :- कुछ मंत्रों से राज्यों के परस्पर संबंध की झलक मिलती है।

(क) राज्यों का संघ :- एक मंत्र में कई राजाओं के एक साथ जाने का उल्लेख है।[१] सायण ने इस मंत्र पर भाष्य करते हुए स्पष्ट किया है कि राजा लोग दूसरे राष्ट्रों को जीतने के लिये एक ही साथ जाते हैं।[२] इससे अवगत होता है कि अथर्वकालिक नरेश प्रबल शत्रु पर आक्रमण करने के लिये संघ बनाते थे। इसका उल्लेख अन्यत्र भी हुआ है। जहाँ कहा गया है कि इन्द्र की सहायता से (सुदास) राजा ने दस राजाओं के संघ को परास्त किया था।[३]

(ख) विजिगीषु नीति :- अथर्वकालिक राजा सार्वभौम बनने की इच्छा करता हुआ प्रतीत होता है। एक सूक्त[४] में उसको सार्वभौम बनाने के लिये इन्द्र से प्रार्थना की गई है। पुरोहित कहता है कि मैं तुम्हें इन्द्र से संयुक्त करता हूं जिससे तुम जनपदों (जनानाम्), राजाओं, और मनुष्यों (पंचमानवों) में श्रेष्ठ बनो।[५] उसकी यह श्रेष्ठ बनने की आकांक्षा उसे नवीन विजयों के लिये प्रोत्साहित करती थी। ऐसे विजिगीषु नृपति के लिये युद्ध मान्य समझा जाता था।

१- सं राजानो अगु: समृणान्यगु: सं कुष्ठा अगु: ।१६,५७,२

२- 'राजान: परराष्ट्रं विनाशयितुं समगु: सं यन्ति संहता भवन्ति,' सायण, मंत्र १६,५७,२ पर।

३- यदिन्द्रादो दाशराज्ञे मानुषं वि गाहथा: ।
विरूप: सर्वस्मा आसीत् सह यज्ञाय कल्पते ।। २०,१२८,१२

४- सूक्त ४,२२

५- युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते ।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ।
४,२२,५

उससे आशा की जाती थी कि वह शत्रुओं को जीतता हुआ (जिगीवां)[1] उनके भोग साधन धनों को जीत लावे ।[2] वह सिंह के समान बन कर सम्पूर्ण प्रजा का भोक्ता होता था तथा व्याघ्र का रूप धारण कर शत्रुओं का विनाश करता था ।[3] उक्त उदाहरणों से राजा की विजिगीषु नीति पर प्रकाश पड़ता है । सार्वभौम बनने की इच्छा करने वाला नरेश निर्बल राज्यों को जीत लेता था ।

१०. राज्य और जातियां :- एक धार्मिक ग्रन्थ होने कारण अथर्ववेद में कहीं भी तत्कालीन राज्यों और जातियों का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता । तथापि उसमें कुछ राज्यों की झलक यत्र तत्र प्राप्त होती है । अधिकांश राज्यों और जातियों का प्रसंग भयंकर रोग तक्मन् के विरूद्ध किये गये अभिचार में मिलता है । उक्त सन्दर्भ में अभिचारक तक्मन् (ज्वर) को रोगी व्यक्ति पर से निवारित करते हुये उसे मगध, अंग और गन्धार आदि प्रदेशों में प्रेषित करता है ।[4]

(क) मगध :- अथर्ववेद में मगध का उल्लेख एक ही स्थान में हुआ है ।[5] पूर्वोक्त प्रसंग के अनुसार अन्य राज्यों - अंग और गन्धार आदि के साथ ही इसमें भी तक्मन् को जाने के

१- जिगीवां शत्रुं जयन् सायण मंत्र ४,२२,६ पर

२- एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा भरा भोजनानि ।। ४,२२,६

३- सिंह प्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोव बाधस्व शत्रून् । ४,२२,७

४- गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्य: ।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि ।। ५,२२,१४

५- वही ५,२२,१४

लिये मंत्रोच्चार किया गया है । इसका तात्पर्य कदाचित् यह हुआ कि मंत्रद्रष्टा ऋषि इस देश को आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे । इसका कारण सम्भवतः यह है कि यह भारत में आर्यों के मुख्य स्थान से हट कर उसकी पूर्वी सीमा पर था । शतपथ ब्राह्मण[1] से प्रतीत होता है कि मगध ब्राह्मणों के प्रभाव क्षेत्र में बहुत बाद में आया ।

(ख) मागध :- मागधों का उल्लेख अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड (१५ वां अध्याय) में केवल चार स्थानों में व्रात्य के मित्र, मंत्र, हंसी या गर्जन (स्तनयित्नुः) के रूप में हुआ है ।[2] उक्त कथनों से मागधों का व्रात्यों से, जिनका वर्णन आगे किया गया है, कुछ संबंध ज्ञात होता है । साम-वेद के लाट्यायन श्रौत-सूत्र[3] से भी इसकी पुष्टि होती है । जिसमें व्रात्य की सम्पत्ति (व्रात्य धन) को कुब्राह्मण या मगध के ब्राह्मण को देने का विधान किया गया है । मागधों को मनुस्मृति[4] में वर्ण शंकर कहा गया है जिनकी उत्पत्ति वैश्य पिता और क्षत्रिय माता से हुई है ।

(ग) अंग :- अंग का अथर्ववेद संहिता में एक ही बार मगध के साथ उल्लेख हुआ है ।[5] परवर्ती साहित्य में भी

१- शतपथ ब्रा० १,४,१,१०

२- स उदतिष्ठत् स प्राचीं दिशमनुव्यचलत् । १५,२,१
श्रद्धापुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानं वासोहरुष्णीषं ।
रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः । १५,२,५
उषा पुंश्चली मंत्रो मागधो विज्ञानं मणि । १५,२,१३
इरा पुंश्चली हसो मागधो विज्ञानं मणिः । १५,२,१९
विद्युत पुंश्चली स्तनयित्नुमागधो विज्ञानं मणि ।१५,२,२५

३- लाट्यायन श्रौ० सू० ८,६,२८

४- मनुस्मृति १०,४७

५- पूर्वोद्धृत ५,२२,१४

इसका उल्लेख हुआ है ।

(घ) व्रात्य :- अथर्ववेद के पन्द्रहवें काण्ड का विषय व्रात्य वर्णन है । यह वर्णन अस्पष्ट, भ्रामक और अतिरंजित है ।

अथर्ववेद के वर्णनानुसार व्रात्य के सिर पर दिन के समान चमकीली पगड़ी थी[1], उसके बाल रात्रि के समान काले थे[2], उसकी गाड़ी विपथ पर चलती थी जिसे हांकने के लिये वह एक तूफानी कोड़े का प्रयोग करता था ।[3] सामवेद के ताण्ड्यमहाब्राह्मण से भी व्रात्यों की वेशभूषा पर प्रकाश पड़ता है ।[4] इस ग्रन्थ में व्रात्यगृह पति द्वारा व्रात्यस्टोम में दक्षिणा में दीजाने वाली वस्तुओं का उल्लेख है जिसमें उसकी वेशभूषा आदि के सामान हैं । इसमें पगड़ी, (उष्णीष), लाल धारी वाले दुहरे किनारे का परिधान, काले रंग के दो चर्म, कोड़ा, लौहशलाका और वाणों से रहित धनुष सम्मिलित है । वहां पटरों से ढकी गाड़ी का भी उल्लेख है जिस पर वे चलते थे ।

व्रात्यों का स्थान निर्धारण कठिन है । वेबर[5] ने,मागधों से इनकी मित्रता के कारण व्रात्यों को मगध का निवासी माना है । परन्तु व्रात'का अर्थ भ्रमण करने वाला

१- अहरुष्णीषं १५,२,५

२- रात्री केशा १५,२,५

३- मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवा हौ ।
वात: सारथी रेष्मा प्रतोद:।। १५, २,७

४- उष्णीषंच प्रतोदश्च ज्याह्रोडश्च विपथश्च
फलकास्तीर्ण: कृष्णाशं वास: कृष्ण वलक्षे अजिने
रजतो निष्कस्तद् गृहते: । ताण्ड्य म० ब्रा० १७,१,१४

५- वेबर - हिस्ट्री आफ इं० लि०, लन्दन, १८७५,पृ०११२

होता है और अथर्ववेद में इसके समस्त दिशाओं में भ्रमण का वर्णन भी है ।[1] हो सकता है कि ये स्थायी रूप से एक ही स्थान पर न रहा करते हों क्योंकि इन्हें कृषि, व्यापार या पठन पाठन न करने वाला कहा गया है ।[2] मागध भी व्यवसायिक चारण थे ।[3] कदाचित् समान वृत्ति के कारण ही व्रात्यों का मागध के साथ उनके मित्र के रूप में वर्णन है ।

(ङ) मूजवत् :- मूजवत् का उल्लेख अथर्ववेद के एक ही सूक्त में तक्मन् के प्रसंग में तीन बार हुआ है । सायण इसे पर्वत का नाम मानते हैं ।[4] तथा यास्क इसे हिमालय पर्वत का एक भाग मानते हैं ।[5] होसकता है कि यह एक पर्वत के अतिरिक्त पार्वतीय जाति का भी नाम हो ।

(च) महावृष :- उक्त प्रसंग में महावृष का भी नाम है ।[6] इस जनपद की स्थिति भी सन्दिग्ध है । छान्दोग्य उपनिषद् में रैक्वपर्ण नामक स्थान को महावृष क्षेत्र में कहा गया है ।[7]

१- अथर्ववेद का पन्द्रहवां काण्ड

२- न हि ब्रह्मचर्यं चरन्ति न कृषिन्न वणिज्यां । ताण्ड्य् ब्रा० १७,१,२

३- ग्रिफिथ - हिम्स आफ अथर्ववेद भाग २, पृ० १८६ नोट संस्करण १९५७

४- सायण, उद्धृत वै०इं०, भाग २, पृ० १८८ नोट (हिन्दी)

५- यास्क निरुक्त ६,८

६- महावृषान् मूजवतो बन्ध्वद्धि परेत्य । ५,२२,८

७- छा० उपनि० ५,११,१

(छ) गन्धार :- गन्धार का भी तक्मन् के सन्दर्भ में एक स्थल में उल्लेख है ।[1] गन्धार का उल्लेख ऋग्वेद[2] और ब्राह्मणों[3] में हुआ है । त्सिमर[4] महोदय का विचार है कि वैदिक काल में ये लोग कुभा नदी के दक्षिणी तट पर रहते थे जिसका विस्तार सिन्धु के पूर्वी तट तक था ।

(ज) बाह्लिक:- अथर्ववेद में इस स्थान का नाम आर्यों द्वारा उपेक्षित एवं घृणित स्थानों में उद्धृत है ।[5] इसकी तत्कालीन स्थिति के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता । यह भारत की पश्चिमी जाति रही होगी ।

(झ) वैतहव्य :- वैतहव्यों की एक जाति का अथर्ववेद में कई बार उल्लेख हुआ है ।[6] ये वीतहव्य के वंशज हैं ।[7] इनकी संख्या एक हजार थी जो सभी एक ही साथ शासन करते थे ।[8] इससे इनके राज्य में गणतंत्र प्रणाली के प्रचलन का प्रमाण प्राप्त होता है । इनका सृंजयों से

१- वही मंत्र ५,२२,१४

२- सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका । ऋग्वेद १,१२६,७

३- शतपथ ब्रा० ८,१,४,१० ऐ० ब्रा० ७,३४

४- त्सिमर उद्धृत वै०इं०, भाग १, पृ० २४३ (हिन्दी)

५- वही मंत्र ५,२२,१४

६- वही ५,१८,१०, ११, ५,१९,१

७- तां वीतहव्य आभारदसितस्य गृहेभ्य: । ६,१३७,१

८- ये सहस्रमराजन्नासन् दशशता उत । ५,१८,१०

सम्बन्ध दिखाया गया है, जिसे त्सिमर[1] महोदय वैतहव्यों की उपाधि मानते हैं । परन्तु, वीतहव्य, जो पैतृक नाम है, की उपस्थिति में यह मत ग्राह्य नहीं है । वैतहव्यों की स्थिति के बारे में कुछ भी कहना कठिन है । ब्राह्मण की गाय न मारने से इनकी पराजय बताई गई है ।[2]

(ढ) रुशमों के राजा कौरम :- अथर्ववेद के कुन्ताप सूक्त[3] में रुशमों के राजा कौरम का वर्णन है ।[4] रुशमों की संख्या ग्यारह सौ पचास कही गई है ।[5] राजा कौरम ने एक ऋषि को दान दिया था ।[6] बस इस प्रकार कौरम के उदार शासन का रूप मिलता है ।

(ठ) कौरव्य परिक्षित :- उक्त सूक्त में ही राजा परिक्षित का भी उल्लेख है । ग्रिफिथ महोदय इस परिक्षित को प्राचीन कुरुओं का अनुवर्ती शासक मानते हैं ।[7] अगले मंत्र में परिक्षित कौरव्य कुल का कहा गया है ।[8] अतः ये परिक्षित कुरुओं का ही वंशज ज्ञात होता है । इसके सुन्दर शासन की प्रशस्ति उक्त सूक्त में गाई गई है । वह देवों मनुष्यों में देव और विश्वजनीन शासक कहा गया है ।[9] इससे विदित होता है कि कुरु वैदिक काल के एक क्षात्रिय कुल के लिये प्रयुक्त शब्द था ।

१- त्सिमर, उद्धृत वै० इं०, भाग २, पृ० ३२८

२- भृगुं हिंसित्वा सृन्जया वैतहव्या पराभवन् । ५,१६,१

३- सूक्त २०,१२७ इस पर सायण ने भाष्य नही किया है ।

४- इदं जना उप श्रुत नाराशंस स्तविष्यते । २०,१२७,१

५- षष्टिं सहस्रा नवतिं च कौरम आ रुशमेषु दद्महे ।।
२०,१२७,१

६- २०,१२७,३

७- हिम्स आफ अथर्ववेद, भाग २, पृ० ४३३ नोट, १६५७ ।

८- कुलायन् कृण्वन् कौरव्यः पतिर्वदति जायया । २०,१२७,८

९- राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवो मर्त्यां अति । २०,१२७,७
दृष्टव्य वै०इं०, भाग १, पृ० १८२-८८ और पृ० २१३ भी

सामाजिक जीवन

१. समाज का संगठन

(१) समाज की उत्पत्ति का सिद्धान्त :- अन्य प्राचीन सभ्यताओं की भाँति अथर्ववैदिक मानव भी समाज की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त में विश्वास करता था । उसके मत में समाज के चारों वर्ग - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र - विराट् पुरुष के क्रमशः मुख, बाहू, मध्य भाग और पैर से उत्पन्न हुए थे ।[१] ब्राह्मण की उत्पत्ति अन्यत्र ब्रह्म स्वरूप ब्रह्मचारी से बताई गई है ।[२] एक अन्य मंत्र में क्षत्रियों को देवाति देव व्रात्य से उत्पन्न कहा गया है ।[३] मनुष्यों की भाँति विराट् पुरुष से घोड़े, गायें, बकरियाँ और अन्य ग्रामीण तथा जंगली पशु उत्पन्न हुए कहे गये हैं ।[५]

(२) पंच मानव :- अथर्ववेद में कतिपय स्थलों पर पंच मानव का उल्लेख है ।[६] पंच मानव से किन जातियों का तात्पर्य है यह कहना कठिन है । ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार इन पाँचों में देव, मनुष्य, गन्धर्व और अप्सरा, सर्प तथा पितृगण आते हैं ।[७] औपमन्यव इनमें चार वर्णों तथा निषाद को सम्मिलित करता है ।[८] यास्क इस तालिका में गन्धर्व, पितृ, देव, असुर और राक्षस को गिनाते हैं ।[९] रॉथ और गिल्डनर चार दिशाओं में रहने वाले लोगों तथा उनके मध्य में रहने वाले आर्यों को मानते हैं । और इस प्रकार पंच मानवों में पृथिवी के सम्पूर्ण लोगों को सम्मिलित करते हैं ।[१०]

१- ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत् ।
मध्यं तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।। १९,६,६

२- पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी ... तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्मज्येष्ठं । ११,५,५

३- सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत । १५,८,१

४- तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्माद् तस्माज्जाता अजावयः ।। १९,६,१२

५- पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ।। १९,६,१४

६- तत्पूर्वः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः । ५,१७,९
यो इमा पञ्च प्रदिशो मानवी पञ्च कृष्टयः । ३,२४,३

७- ऐ०ब्रा० ३,३१

८- उद्धृत, यास्क निरुक्त ३,२

९- यास्क वही ३,२

१०- उद्धृत वै०इं०, भाग १, पृ० ५२७ (हिन्दी संस्करण)

सम्मिलित करते हैं ।[१] उपर्युक्त मतों में कोई भी मत पूर्णतया निश्चित नहीं है । अथर्ववेद के एक मंत्र में भिन्न भिन्न बोली तथा चाल चलन वाले लोगों का उल्लेख है ।[२] इससे ज्ञात होता है कि अथर्वकाल में कई वर्ग के लोग रहते थे जिनमें पंच मानव मुख्य हो सकते हैं ।

(३) वर्ण व्यवस्था

वर्ण शब्द अथर्ववेद में तीन स्थलों पर उल्लिखित है[३] जिनमें दो स्थलों में यह रंग के अर्थ में[४] प्रयुक्त हुआ है और एक स्थान में वर्ग के अर्थ में[५]। वर्ग का अर्थ चरितार्थ करने वाले मंत्र में कहा गया है कि इन्द्र ने दस्युओं को मार कर आर्य वर्ण की रक्षा की थी ।[६] इससे आर्य और दास दो वर्णों की स्थिति ज्ञात होती है । एक अन्य मंत्र में अथर्वा ऋषि गर्व करता है कि उसके नियम को दास या आर्य नष्ट नहीं कर सकते ।[७] इसके अतिरिक्त एक ही मंत्र में चार वर्णों का उल्लेख हुआ है ।[८] तथा दूसरे मंत्र से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों पर प्रकाश पड़ता है ।[९] इन सबसे प्रगट होता है कि अथर्वकाल में चार वर्णों की स्थिति थी ।[१०] जिनमें परस्पर भेद बढ़ रहा था और सामाजिक जीवन जटिलता की ओर अग्रसित हो रहा था एवं वैवाहिक संबंधो में प्रतिबन्ध आने लगे थे ।[१०]

(क) ब्राह्मण :- समाज में ब्राह्मण वर्ग का सर्वश्रेष्ठ स्थान था । उसकी श्रेष्ठता कई बातों से ज्ञात होती है । अन्य वर्ण विराट् पुरुष के निम्न अंगों से उत्पन्न हुये कहे गये हैं । ब्राह्मण उसके मुख से ।[११] ब्राह्मणों

१- त्सिमर उद्धृत वै० इं०, भाग १, पृ० ५२८
२- जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम् । १२,१,४५
३- १,२३,२, ११,३,८, २०,११,९,
४- वर्ण: परा शुक्लानि पातय । १,२३,२ । हरितं वर्ण: । ११,३,८
५- हत्वी दस्यून प्रार्य वर्णमावत । २०,११,९
६- वही २०,११,९
७- न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये । ५,११,३
८- १९,६,६ (पुरुष सूक्त)
९- प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ।। १९,३२,१
प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च । १९,३२,८
१०- ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्य: । ५,१७,९
११- पूर्वोद्धृत १९,६,६

है ।[1] इसलिये वे श्रेष्ठ समझे जाते थे । तप से पृथिवीलोक और स्वर्ग लोक की रक्षा समझी जाती थी ।[2] तपस्या से ब्राह्मणों में तेज का आगमन होता था जिसे अन्य लोग प्राप्त करनेकी प्रार्थना करते थे ।[3] इतना ही नहीं ब्राह्मणों को सम्मानित करने के लिये देव कहा जाता था ।[4]

ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्ववेद के समय में ब्राह्मण लोग एक जाति का रूप धारण कर लिये थे । कई स्थानोपर ब्राह्मण के पुत्र को ब्राह्मण ही कहा गया है ।ऋषि नृषद् का पुत्र कण्व[5] और अंगिरस के पुत्र आंगिरस[6] ब्राह्मण कहे गये हैं । ब्राह्मणों में विवाह के नियम कठोर थे ।[7]

ब्राह्मणों का प्रधान कार्य पौरोहित्य से सम्बन्धित था । अथर्वा ऋषि देव आहुति से हवन करते हुये सविता से प्रार्थना करते हैं कि वह उनके पुरोहिती (पुरोधा) कार्य में सहायता करें ।[8] उक्त मंत्र में अथर्वा ऋषि यज्ञ करते हुये प्रदर्शित किये गये हैं । ब्राह्मणों का यज्ञ और अग्नि से बहुत ही घनिष्ट संबंध था । पुरुष सूक्त में दोनों की उत्पत्ति विराट् पुरुष के मुख से बताई गई है ।[9] अन्यत्र अग्नि देव द्वारा ब्राह्मणों को वरण करने का उल्लेख है ।[10] अत: पुरोहित के रूप में ब्राह्मण समाज के धार्मिक कार्यों का अग्रणी था । वह राजा के चुनाव, राज्याभिषेक, पुन:स्थापना और उसके युद्ध सम्बन्धी कार्यों में अप्रतिम योगदान देता था । वह इन्द्रजाल आदि बहुल प्रयोगों द्वारा जनता के स्वास्थ्य जीवन यापन की कामना करता था । इनका दूसरा अन्य कार्य शिक्षा सम्बन्धी था । ये लोग आचार्य के रूप में यम नियम का पालन करते थे और अपने छात्रों द्वारा भी इसी प्रकार आचरण करवाते थे ।[11]

१- ब्राह्मणा व्रतचारिण: । ४,१५,१३
२- पृथिवीं दिवं च । स रक्षति तपसा ब्रह्मचारी । ११,५,८
३- सा मे द्रविणं यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम् । १०,५,३७
४- प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये । १९,३२,१
इस मंत्र में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के लिये क्रमश: देव और राजन् शब्द प्रयुक्त हुए हैं ।
५- ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन । ४,१९,२
६- तमु त्वाहुर्दिवा इति ब्राह्मणा पूर्व्या विदु: ।। १९,३४,६
७- ५,१७,६ उद्धृत पूर्व
८- सविता प्रसवानामधिपति: स मावतु.... अस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायाम् । देवहूत्यां स्वाहा । ५,२४,१
९- ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद .... मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च...अजायत ।१९,६,६-७
१०- त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणो भवान: ।२,६,३
११- आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते । ११,५,१७

विभिन्न भाषाओं के ज्ञाता थे ।[१]

ब्राह्मणों का जीवन उन्हें दक्षिणा के रूप में द्रव्य और पशु दिये जाते थे । लोगों की धारणा थी कि सर्वयज्ञ में ब्राह्मणों को हिरण्य पक्वान्न तथा दूध देने वाली गाय को देने से उनके पितरों के स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त हो जाता है ।[२] दूसरे प्रसंग में दक्षिणा के रूप में दी गई गाय का वर्णन प्राप्त होता है, इसके द्वारा प्रदत्त यह दक्षिणा सुख पूर्वक मेरे पास आयी है, यह भली भांति दुही जाने वाली है और आयु को बढ़ाने वाली है ।[३] यह दक्षिणा कभी कभी हजार गायों तक की होती थी । एक जगह अप्रत्यक्ष रूप में हजारों गायों के दान का वर्णन है ।[४]

ब्राह्मणों की स्वच्छन्दता कई बातों से सिद्ध होती है । वे सामान्यतया राज शक्ति की सीमा से मुक्त समझे जाते थे । लोगों का ऐसा विश्वास था कि राष्ट्र की उत्पत्ति ऋषियों और ब्राह्मणों की तपस्या से हुई है ।[५] कदाचित यही कारण है कि ब्राह्मण राजदण्ड से मुक्त था । एक स्थल पर उल्लेख है कि जिस राजा के राज्य में ब्राह्मण का त्रस्त किया जाता था । उस राज्य में अवर्षण होता था, समिति राजा के प्रतिकूल हो जाती थी और उसके मित्र भी शत्रु हो जाते थे ।''[६] ब्राह्मण की हत्या होने से राज्य का शीघ्र ही नाश होने लगता था ।[७] दूसरे प्रसंग में कथन है कि ब्राह्मण स्त्री के गर्भ का नाश करने वाले एक सौ लोग विनष्ट हो गये थे ।[८] ब्राह्मण वध पारलौकिक दृष्टि से भी निषिद्ध समझा जाता था । क्योंकि उनके विचार में ब्राह्मणहन्ता के पितर स्वर्ग नहीं जा सकते थे । ब्राह्मण की सम्पत्ति भी अग्राह्य समझी जाती थी। ब्राह्मण की गाय का यदि कोई क्षत्रिय बलपूर्वक अपहरण करता था तो उसकी वाणी, वीर्य और उसकी लक्ष्मी नष्ट हो जाती थी ।[९] इस आशय

१- चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । ६,१०,२७

२- इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा ।
इदं धनं निदधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ।। ११,१,२८

३- एयमगन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सुदुघा वयोधाः ।। १८,४,५०

४- सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति । ९,४,१३
एषा इषाय मामहे सहस्रा दश गोनाम् । २०,१२७,३

५- भद्रमिच्छन्त: ऋषयः स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं ।। १९,४१,१

६- न वर्षं मैत्रावरुणौ ब्रह्मज्यमभि वर्षति ।
नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ।। ५,१९,१५

७- ब्राह्मणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना । ५,१९,८

८- एक शतं ता जनताया भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ।। ५,१८,१२

की गाय नष्ट करने से सृंजय वैतहव्यों की पराजय हुई थी । इनकी संख्या एक हजार थी ।[1] इसी प्रकार वशा नामक गाय भी क्षत्रियों[2] और वैश्यों[3] (गोपतियों) के लिये अग्राह्य थी । ब्राह्मण की गाय की भांति उसकी स्त्री भी दूसरों के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं थी । जो राजा अपने राज्य की संरक्षा करना चाहता था उसे ब्राह्मण की पत्नी की ओर ध्यान देना पड़ता था ।[4] उनका ऐसा विश्वास था कि जो राजा ऐसा नहीं करता था उसके हर्म्य में सुन्दरियां नहीं रहती थीं ।[5] इस प्रकार ब्राह्मण और उसकी संपत्ति सदा सुरक्षित और अग्राह्य समझी जाती थी ।

(ख) क्षत्रिय :- अथर्ववेद में क्षत्रियों के द्योतक शब्द क्षत्र[6], क्षत्रिय[7], राजन्य[8] और नृपति[9] प्राप्त होते हैं । क्षत्र शब्द प्रभुत्व, शासन, शक्ति[10] आदि के साथ ही शासक के अर्थ[11] में प्रयुक्त होता है । सायण क्षत्राणाम् का क्षत्रियाणाम् अर्थ करने में नहीं झिझकते ।[12] इसी प्रकार राजन्य शब्द भी शासकवर्ग का ही नाम है ।[13] इसी आशय में नृपति शब्द भी प्रयुक्त हुआ है ।[14] परन्तु क्षत्रिय शब्द निश्चित रूप से ब्राह्मणों के विपरीत जाति के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है ।[15]

१- ये सहस्रमराजन्नासन् दशशता उत । ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन् । ५,१८,१०
२- दानेन च राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति । १२,४,३२
३- अथो ह गोपतये वशाददुषे विषं दुहे । १२,४,३६
४- अस्या ब्रह्मजायेति चेदवेदत् । तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य । ५,१७,३
५- नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शये । ५,१७,१२
६- २,१५,४, १२,५,८
७- ब्रह्म च क्षत्रं च ... अपक्रामति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य । १२,५,२
८- वशा माता राजन्यस्य । १२,४,३२ और १९,३२,८ भी
९- इषुरिव दिग्धा नृपते पृदाकूरिव गोपते ।
सा ब्राह्मणस्येषुर्घोरा तया विध्यति पीयतः । ५,१८,१५
१०- मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद् रयिम् । ३,५,२
११- एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य । वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै । ४,२२,२
१२- उक्त मंत्र ४,२२,२ पर सायण
१३- सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत । १५,८,१
१४- उक्त टिप्पणी नं० ९ में ब्राह्मण, वैश्य (गोपति) के साथ क्षत्रिय के लिये नृपति शब्द आया है ।
१५- प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु । प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १९,६२,१ — प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च । १९,३२,८
और भी २,१५,४, १२,५,२

तथा वैश्यों के पूर्व में निर्धारित होती थी । पुरुष सूक्त में इनकी उत्पत्ति विराट् पुरुष के निम्न अंग से हुई है ।[१] इससे प्रतीत होता है कि क्षत्रिय ब्राह्मण से निम्न श्रेणी में समझा जाता था । ~~क्षत्रियों के कार्य~~

क्षत्रियों के कार्य एवं उद्देश्य के विषय में भी अथर्ववेद से ज्ञान प्राप्त होता है । ब्लूमफील्ड के अनुसार अथर्ववेद में क्षत्रियों से संबंधित बहुल सामग्री मिलने के कारण ही उसे क्षात्र वेद नाम दिया गया था ।[२] क्षत्रियों का प्रधान कार्य शासन करना था । यह बात इनके विशेषणों - क्षात्र, राजन्य और नृपति - से भी सिद्ध होती है । एक सूक्त में राजा को क्षत्रिय कहा गया है ।[३] जिस सूक्त को ह्विटने महोदय ने राजा की समृद्धि और सफलता के लिये प्रयुक्त माना है ।[४] वह एक महान् योद्धा के रूप में वर्णित किया गया है । वह सिंह के समान प्रजा का उपभोक्ता तथा व्याघ्र के रूप में शत्रुओं का विनाशक था ।[५] शत्रुओं का विनाश करने के कारण ही वह इन्द्र का मित्र कहा गया है ।[६] अथर्ववेद के बहुत से स्थलों से यह बात सिद्ध होती है कि क्षत्रिय सदा लोगों की रक्षा करना अपना परम कर्तव्य समझता था । एक मंत्र में कथन है कि कौन प्रशस्त फल चाहने वाला क्षत्रिय हमलोगों का इस अहितकारी बाधा से उन्मुक्त करेगा ।[७] क्षत्रिय का प्रमुख हथियार धनुषबाण था । जब कोई क्षत्रिय पुरुष मरता था तो अन्त्येष्टि क्रिया में उसके हाथ में धनुष-बाण ही दिया जाता था ।[८] इससे ज्ञात होता है कि यह उनका परम प्रिय अस्त्र था । शत्रुओं से अपनी रक्षा के लिये ये लोग कवच (वर्म) पहनते थे ।[९]

१- बाहू राजन्योभवत् । १९,६,६

२- ब्लूमफील्ड, से०बु० आफ इ०, भाग ४२, पृ० २५ (भूमिका)

३- इमंमिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेक वृषं कृणु ।
वर्ष्मक्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रु रन्धय सर्वस्मै ।। ४,२२,१-२

४- ह्विटने, अथर्ववेद का अनु०, पृ० १८८

५- सिंहप्रतीको विशो आद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीको बाधस्व शत्रून । ४,२२,७

६- एक वृष इन्द्रसखा जिगीवा छत्रूयतामा भरा भोजनानि ।। ४,२२,६

७- को अस्या नो द्रुहोवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन । ७,१०,३

८- धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन । १८,२,६०

९- परिवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं । १७,१,२८ तथा १९,४६,४ भी

था। एक स्थल पर क्षत्रिय मृत्यु से बचने के लिये हवन करता हुआ प्रदर्शित किया गया है, जो इस क्षत्रिय द्वारा समाहित और सन्दिप्त अग्नि को जानता है वह मृत्यु के पथ पर पग नहीं रखता।[1] जो क्षत्रिय अपनी दीर्घायु के लिये मन से अग्नि का नाम लेता है, उसे न तो शत्रु विनष्ट कर सकते हैं और न वह मृत्यु की ओर ही उन्मुख हो सकता है।[2] अन्यत्र क्षत्रिय पितरों को बलि (स्वधा) तथा देवों के लिये यज्ञ करता हुआ दिखाया गया है।[3]

(ग) वैश्य :- वैश्य का समानार्थी शब्द विड्, विश्य और आर्य हैं। बहुत से मंत्रों में विश् राजा के प्रजा के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[4] अर्थात वैश्य लोग सामान्य रूप से प्रजाजन ही कहे जाते थे। एक मंत्र में जहां ब्राह्मणों (देव) और क्षत्रियों (राजन्) का उल्लेख है वैश्यों के लिये विश्य शब्द का प्रयोग हुआ है।[5] वैश्यों के लिये दूसरा प्रयोग होने वाला शब्द आर्य है। अनेक मंत्रों में जहां ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र का प्रकरण उपस्थित हुआ है वहां वैश्यों को आर्य कह कर पुकारा गया है। एक व्यक्ति दर्भ नामक औषधि ब्राह्मणों, क्षत्रियों शूद्रों और आर्यों (वैश्य का प्रिय बनने की कामना करता है।[6] अन्य जगहों में भी इसी प्रकार आर्य ही उसका उपनाम है।[7] वैश्यों का एक और प्रमुख उपनाम गो-पति है।[8]

वैश्यों की सामाजिक स्थिति क्षत्रियों के पश्चात् तथा शूद्रों से पूर्व निर्धारित होती थी, क्योंकि वर्णनिक्रम में इनको क्षत्रियों से बाद में तथा शूद्रों के पास ही रखा गया है।[9] क्षत्रियों की भांति वैश्य भी ब्राह्मण स्त्री का पति कथमपि नहीं हो सकता था।[10] एक मंत्र से ज्ञात होता है कि वैश्यों में

१- यो अस्य समिधं वेद क्षत्रियेण समाहिताम् ।
नाभि ह्वारे पदं निदधाति स मृत्यवे ।। ६,७६,३

२- नैनं घ्नन्ति पर्यायिणो न सन्नां अव गच्छति ।
अग्नेः क्षत्रियो विद्वान्नाम गृह्णात्यायुषे ।। ६,७६,४

३- स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यो ।।
दानेन च राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति ।। १२,४,३२

४- त्वां विशो वृणतां राज्याय । ३,४,२, और ४,२२,३ भी

५- नमो देववधेभ्यः नमो राजवधेभ्यः ।
अथो यो विश्यानां ववस्तेभ्यो मृत्यो नमोस्तु ते ।। ६,१३,१

६- प्रियं मा कृणु दर्भ ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च । ~~१९-३२-८~~ १९,३२,८

७- तेनाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यम् । न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये । ५,११,३ । गोपति के लिये द्रष्टव्य व्हिटने अ०पृ० २५२

८- वही व्हिटने अथर्ववेद पृ० २५२

९- उक्त मंत्र ६,१३,१ और १९,६,६

१०- ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः ।
तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः । ५,१७,९

वैश्यों के कार्यों में कृषि और पशुपालन का प्रमुख स्थान था । अथर्ववेद के सूत्र कार कौशिक ने पितृमेध यज्ञ के प्रसंग में जहां क्षत्रियों के लिये धनुष-बाण[2] का विधान किया है वहां वैश्यों के लिये पैना (अष्ट्रा) का ।[3] पैना से हल हांकने में सहायता मिलती है अत: वैश्य लोग कृषि से संबंधित ज्ञात होते हैं । हापकिन्स का भी मत है कि वैश्य लोगों का प्रमुख व्यवसाय कृषि और पशुपालन था ।[4] व्हिटने महोदय का कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है। क्योंकि गोपति का उल्लेख नृपति (क्षत्रिय) और ब्राह्मण के साथ में एक ही मंत्र में हुआ है ।[5] अन्य स्थानों पर भी गोपतियों का गायों की संरक्षा के संबंध में विवरण मिलता है । वशा सूक्त में गोपितयों को बार बार सचेत किया गया है कि वे वशा गाय की रक्षा करते हुए उसे ब्राह्मण को अर्पित करें । अन्यथा उन्हें विविध विपत्तियों का सामना करना पड़ेगा ।[6] गोपति लोग कामना करते थे कि उनके गोष्ठ में गायों की वृद्धि होवे ।[7] इसके अतिरिक्त अन्य कई स्थलों पर गोपति का गायों के साथ संबंध दिखाया गया है ।[8] इससे वैश्यों (गोपतियों) के गौ पालन कार्य पर प्रकाश पड़ता है ।

शूद्र:- अन्य वर्णों की भांति शूद्रों की भी सामाजिक स्थिति थी । सामान्यतया ये चौथे वर्ग के रूप में उल्लिखित हुए हैं । इनकी सामाजिक हेयता कई बातों से ज्ञात होती है । एक स्थान पर अभिचार द्वारा भयंकर रोग तक्मन् को नीच दासी पर जाने को कहा गया है ।[9] इसके पश्चात् ही तक्मन् से कहा गया है

१- अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम् । १८,३,४
यह मंत्र अन्त्येष्टि सूक्त में है जहां मृतक की पत्नी को संबोधि किया गया है ।

२- संहिता में 'धनुर्हस्तादाददानो' का उल्लेख है । १८,२,७ परन्तु १८,२,५६ में 'दण्ड हस्तादाददानो' आया है । यहां दण्ड शब्द अष्ट्रा का द्योतक है ।

३- धनुर्हस्तादिति क्षत्रियस्य । अष्ट्रामिति वैश्यस्य । कौ० सू०,८७,४६-५०

४- हापकिन्स,उद्धृत वै०इं० भाग २, पृ० ३७३ (हिन्दी संस्करण १९६२)

५- व्हिटने अथर्ववेद का अनुवाद पृ० २५२
इषुरिव दिग्धा नृपते पृदाकूरिव गोपते । सा ब्राह्मणस्येषुर्घोरा तया विध्यति पीयत :।। ५,१८,१५

६- यावदस्या गोपतिर्नोपशृण्याहच: स्वयम् ।
चरेदस्य तावद् गोषु नास्य श्रुत्वा गृहे वसेत् । १२,४,२७

७- मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णु । ३,१४,६

८- ८,२,२३, १९,५८,३

९- दासी निष्टक्वरीमिच्छतां वज्रेण समर्पय । ५,२२,६

हुआ कि दासी और शूद्रा दासी का एक ही अर्थ माना था। इस प्रकार के घातक उपचार[1] शूद्रों के प्रति लोगों की घृणा व्यक्त होती है वर्णों की उत्पत्ति के प्रसंग में भी उन्हें विराट् पुरूष के पैर से उत्पन्न[2] कहा गया है जबकि अन्य वर्णों को उसके श्रेष्ठ अंगों से। परन्तु उनकी हेयता के बावजूद भी मानव प्रेमी लोग सभी वर्णों का प्रिय बनने की इच्छा प्रगट करते थे।[4] प्राप्त विवरणों के आधार पर शूद्रों के कार्यकलाप का वर्णन करना कठिन है। एक स्थान पर दासी गोबर फेंकती हुई प्रदर्शित की गई है।[5] व्हिटने महोदय ने यहां दासी का अर्थ नौकरानी से किया है।[6] दूसरे स्थान में वह उखल और मूसल के साथ भीगे हुए हाथों वाली कही गई है।[7] इससे शूद्रों और उनकी स्त्रियों के सेवा संबंधी कार्य पर भी प्रकाश पड़ता है।

(६) आश्रम व्यवस्था

अथर्ववेद में यद्यपि आश्रम शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है तथापि इस व्यवस्था का पूर्व रूप अवश्य ही प्राप्त होता है। अथर्वकालिक व्यक्ति हमारे समक्ष छात्र (ब्रह्मचारी), गृहस्थ (गृहपति), तपस्वी तथा ~~ऋषि~~ ऋषि एवं ब्रह्मविद् के रूप में उपस्थित होता है।

(क) ब्रह्मचारी :- एक सम्पूर्ण सूक्त में ब्रह्मचारी का वर्णन मिलता है। इस वर्णन क्रम में ब्रह्मचारी को समाज की आधार शिला कहा गया है।

ब्रह्मचर्य का प्रारम्भ विद्यारम्भ से होता था। एक मंत्र में उपनयन किये हुए ब्रह्मचारी का उल्लेख है।[9] इससे विदित होता है कि उपनयन किया हुआ व्यक्ति ही विद्याध्ययन का अधिकारी था। उपनयन का एक अर्थ शिष्य को

१- शूद्रामिच्छ प्रफर्व्यं दासं नग्नम् ... । ५,२२,७

२- पै० शाखा (उद्धृत व्हिटने अथ० पृ० २६०) में शूद्रा के स्थान पर दासी ही आया है।

३- पद्भ्यां शूद्रोऽजायत। १९,६,७

४- प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजन्यास्यां शूद्राय चार्याय च। १९,३२,८, १९,३२ १ भी

५- यदस्या पल्पूलं शकृद् दासी समस्यती। १२,३,

६- व्हिटने अथ० का अनुवाद पृ० ६६५

७- यद्वा दास्यार्द्रहस्ता समङ्क उलूखलं मुसलं शुम्भतापः। १२,३,१३
द्रष्टव्य रामशरण शर्मा शूद्राज इन ए०इं०, पृ० २४

८- ११,५

९- आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातमभि संयन्ति देवाः। ११,५,३

करता हुआ उसे अपने गर्भ में धारण करता है, तीन रात्रि [illegible]
अपने उदर में रखता है तब ब्रह्मचारी नवीन जन्म ग्रहण करता है और देव गण उसे देखने के लिये एकत्र होते हैं।"[1] आचार्य क्यों गर्भी कहा गया है? इसका उत्तर शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। उसमें कथन है कि "आचार्य शिष्य पर अपना दाहिना हाथ रखने से गर्भी होता है और तृतीय रात्रि में वह (ब्रह्मचारी) सावित्री सहित ब्राह्मण के रूप में जन्म लेता है।"[2] यही उसका श्रेष्ठ जन्म कहा गया है क्योंकि माता पिता तो केवल शरीर ही उत्पन्न करते हैं।[3]

ब्रह्मचारी का जीवन उपनयन के पश्चात् आचार्य के पास रह कर विद्याध्ययन का काल था। वह आचार्य के घर में रह कर कठोर नियमों का पालन करता था। दीक्षित होकर वह कृष्णमृग-चर्म धारण करता था, और उसकी मूछदाढ़ी लम्बी लम्बी होती थी।[4] वह मेखला पहनता था और समिधा लाकर[5] नित्य अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि देवों को समिधा प्रदान करता था।[6] वह भिक्षाटन[7] करके अपना और अपने गुरू का भी पालन करता था।[8]

ब्रह्मचर्य जीवन का अधिकार ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रियों और स्त्रियों को भी था। यदि कोई योद्धा युद्धभूमि में शौर्य प्रदर्शित करता था या राजा अपने शासन प्रबन्ध में सफल होता था तो उसका कारण ब्रह्मचर्य व्रत समझा जाता था।[9] कुमारियों को भी ब्रह्मचर्य व्रत के पालन से योग्य पति प्राप्त हो सकता था।[10] इससे ज्ञात होता है कि कदाचित अथर्ववैदिक शिक्षा का द्वार बालक और बालिकाओं सबके लिये खुला था। ~~ब्रह्मचर्य का~~

आचार्य का ब्रह्मचारी के ऊपर पूर्ण प्रभुत्व होता था। वह महान् अपराध करने पर ब्रह्मचारी को मृत्यु दण्ड तक दे सकता था।[11] आचार्य

१- वही ११,५,३
२- आचार्यो गर्भी भवति हस्तमादाय दक्षिणम्।
सावित्र्या सह ब्राह्मण इति। श० ब्रा० ११,५,४,१२
३- तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव माता पितरौ जनयतः। आ०ध०सू० १,१,१५-१७
४- ब्रह्म चर्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रु ।।११,५,६
५- ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति। ११,५,४
६- अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि ब्रह्मचार्यप्सु समिधा ददाति। ११,५,३
७- ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार। ११,५,६
८- स आचार्यं तपसा पिपर्ति। ११,५,४
९- ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।। ११,५,१७
१०- ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। ११,५,१८
११- आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः। ११,५,१४

भाँति छात्रों से कठोर नियमों का पालन करवाता था ।[१] परन्तु इसके साथ ही साथ आचार्य छात्र की संरक्षा भी करता था । वह सोम (चन्द्रमा) के समान दयालु और छात्र के रोगग्रस्त होने पर औषधि आदि के द्वारा उसका उपचार करता था ।[१]

(ख) गृहस्थ :- ब्रह्मचर्य जीवन के समाप्त होने के पश्चात् गृहस्थ जीवन प्रारम्भ होता था । गृहस्थ स्वधा प्रदान करने के लिये पितरों का और यज्ञ करने के लिये देवों का ऋणी था ।[३] वह तीनों अग्नियों का यथा समय सेवन करता था ।[४] उसकी अग्नि घर के लोगों में नित्य सौमनस्य लाने वाली होती थी ।[५] एक मंत्र में गृहस्थ अग्निहोत्र करता हुआ प्रदर्शित किया गया है ।[६]

अतिथि सेवा गृहस्थ के कार्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी । इस कार्य को इतना श्रेय मिला है कि स्वयं उसे एक यज्ञ कहा गया है ।[७] जिससे संतान, पशु, कीर्ति, इष्टापूर्त और स्वर्ग का लाभ प्राप्त होता था ।[८] जो व्यक्ति इसकी अवहेलना करता था उसके उक्त सभी कार्य नष्ट हुए समझे जाते थे ।[९] एक सम्पूर्ण सूक्त में अतिथि-सत्कार के प्रत्येक गति विधि को यज्ञ की गति विधियों से समीकृत किया गया है । गृहस्थ घर आये हुए अतिथि की ओर देखता है तो मानो वह देव यज्ञ की ओर देखता है ।[१०] उसका अभिवादन करने पर वह दीक्षा ग्रहण किया हुआ सा हो जाता है ।[११] उसके

१- वही ११,५,१६

२- वही ११,५,१४

३- स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यो । १२,४,३२

४- यो विश्वानां च आवसनीयो यो वैश्मान स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्नि । ९,६,३०

५- उद्गीर्णाग्निष्वग्निहोत्रेऽतिथिर्गृहानागच्छेत् स्वयमेनम भ्युदेत्य ब्रूयाद । १५,१२,१-२

६- वही १४,२२,१४२

७- यह बात सूक्त ९,८, में रूपात्मक ढंग से स्पष्ट वर्णित है ।

८- इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ।
यः प्रजां च वा एष पशूंश्च । कीर्तिं च वा एष यश्च ९,६,३१

९- यद् वा अतिथीन् प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते । ९,६,३

१०- वही ९,६,३

११- यदभिवदति दीक्षामुपैति । ९,६,४

के लिये पशुबंध की तैयारी करना है ।[१] अतिथि के लिये आवास की व्यवस्था करना मानो यज्ञ के लिये आसन और हविर्धान ~~करना है~~ का प्रबंध करना है ।[२] अतिथि को दिये गये तृणासन, अंजन, और भोजन यज्ञ का क्रमशः बर्हिष, आज्य और पुरोडाश है ।[३] उसके विश्राम के लिये प्रदत्त तकिया तोशक और गद्दा यज्ञ की परिधियां हैं ।[४] अतिथि को भोजन लाने वाला अध्वर्यु और उसका प्रतीक्षा करने वाला अग्निध्र है ।[५] भोजन कराने के पश्चात् गृहस्थ जब घर में जाता है तो मानो वह अवभृथ स्नान के लिये उद्यत हुआ हो ।[६] भोजन परोसने के समय जो वितरण होता है वह यज्ञ दक्षिणा के वितरण के समान है ।[७] और अतिथि को सुलाने की व्यवस्था करना स्वर्ग प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने के समकक्ष है ।[८]

(ग) वानप्रस्थ :- अथर्ववेद में वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं हुआ है ।परन्तु इसमें कई प्रकार के साधु सन्तों का उल्लेख मिलता है ।जो इन आश्रमों का प्रतिनिधित्व करते हैं । समाज में कुछ ऐसे लोग थे जो मुनि कहलाते थे और उनके सिर पर लम्बे लम्बे बाल होते थे ।[९] एक स्थान पर देव मुनि का उल्लेख मिलता है ।[१०] इस समय एक अन्य प्रकार के साधु मिलते हैं जिन्हें व्रात्य कहा गया है । ये साधु सदा पर्यटनशील जीवन बिताते थे और लोगों के यहां अतिथि बन कर जाया करते थे ।[११] इनके सिर के बाल इतने बड़े थे कि ऋषि ने उनकी तुलना रात्रि से की है ।[१२]

१- यत् तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नाषोमीय: पशुर्बध्यते स एव स: । ९,६,५

२- यदावसथान् कल्पयन्ति सदो हविर्धानान्येव तत् कल्पयन्ति । ९,६,७

३- यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् । यत् कशिपूपबर्हणमाहरन्ति परिधय एव ते । ९,६,१०

४- ९,६,११-१२

५- यत् परिवेष्टार: पात्रहस्ता: पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते । ९,६,५१

६- यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् परिविष्य गृहानुपोदैत्यवभृथमेव तदुपावैति । ९,६,५३

७- यत् समागयति दक्षिणा समागयति । ९,६,५४

८- यदुपरिशयनमाहरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमवरुन्ध्दे । ९,६,९

९- उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम् । ८,६,१७ जटाभिस्तापस:'

१०- मुनेर्देवस्य ७,७४,१

११- तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोतिथिर्गृहानागच्छेत् श्रेयांस मेनमात्मानो मानयेत् । १५,१०,१

१२ रात्री केशा....१५,२,५

लोग परमतत्व को ढूंढने में सदा चिन्तनशील रहते थे । एक दूसरे मंत्र में कहा गया है कि जो पुरुष में परमतत्व को जानता है वह स्वयं परमेष्ठिन् को जानता है ।[2] उनका विश्वास था कि शरीर के अंग प्रत्यंग में तैंतीस सौ देवता निवास करते हैं । उनका अस्तित्व ब्रह्मविद् एक ही देव में देखते हैं ।[3] एक मंत्र में कहा गया है कि, नौ द्वारा वाले और तीन गुणों से आवृत (शरीर रूप) कमल में आत्मा (यक्ष) बैठा हुआ है जिसे ब्रह्मविद् ही जानते हैं ।[4] 'जो खुले हुए सूत को जानता है, और जिसमें सभी प्राणी बुने गये हैं, जो सूत के सिरे को जानता है वह महान् ब्राह्मण को जानता है' ।[5] एक अन्य मंत्र में कामना रहित अमर स्वयंभू अतृप्त आत्मा का वर्णन है जिसे जानकर लोग मृत्यु को नहीं प्राप्त होते ।[6]

(५) औद्योगिक एवं व्यवसायिक वर्ग

अथर्ववेद से कुछ औद्योगिक एवं व्यवसायिक वर्गों का भी यत्र तत्र उल्लेख मिलता है, जिनमें रथकार, कर्मार, तक्षन्, कुलाल, इषुकार, मलग (धोबी), वप्ता (नाई) और किनाश (हलवाहा) मुख्य हैं । इनका वर्णन आर्थिक जीवन के प्रसंग में दिया गया है ।

१- भद्रमिच्छन्त: ऋषय: स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे । १६,४१,१

२- ये पुरुषे ब्रह्मविदुस्ते विदु: परमेष्ठिनम् । १०,७,१७

३- यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे ।
   तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदु: । १०,७,२७

४- पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
   तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदु: ।। १०,८,४३

५- यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोता प्रजा इमा: ।
   सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत् ।। १०,८,३७

६- अकामो धीरो अमृत: स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोन: ।
   तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् । १०,८,४४

परिवार समाज की प्रथम इकाई है। अथर्ववैदिक परिवार एक सुसंगठित संस्था ज्ञात होती है, जिसके प्रत्येक सदस्य अपना उत्तरदायित्व समझते और परिवार के विकास के लिये दत्तचित रहते थे।

(१) गृहपति :- परिवार को गृह तथा उसके प्रधान को गृहपति कहा जाता था। कदाचित गृहपति का पद विवाह होने के पश्चात् ही प्राप्त होता था। क्योंकि विवाह सूक्त में संस्कार सम्पन्न कराते हुए वर वधू से कहता था कि, "तू मेरी पत्नी है और मैं तेरा गृहपति हूं।"[१] गृहपति के कार्यों में एक प्रमुख कार्य गार्हपत्य अग्नि का सेवन करना था। एक मंत्र से ज्ञात होता कि विवाह संस्कार सम्पन्न करके वर जब वधू सहित अपने घर पहुंचता था तो गार्हपत्य अग्नि का पूजन करता था।[२] सम्भवतः विवाह के पश्चात् ही गार्हपत्य अग्नि की पूजा गृहस्थ प्रारम्भ करते थे। उन लोगों का विश्वास था कि ऐसा करने से पारिवारिक मनोमालिन्य दूर हो जाएगा और परिवार में सुबुद्धि आ जाएगा।[३] गृहपति का स्थान परिवार में आदरणीय था। अतः सभी लोग गृहपति बनने की महत्वाकांक्षा रखते थे।[४]

(२) गृहपत्नी :- गृहपति की भांति उसकी पत्नी (यज्ञ के समय पति का साथ देने वाली स्त्री) का भी परिवार में प्रतिष्ठित स्थान था। विवाहिता स्त्री से यही कामना की जाती थी कि वह पति के घर में स्वामिनी बन कर परिवार के अन्य सदस्यों को अपने आचरण से वश में करे।[५] वह पति और देवर का अहित न सोचे।[६] ऐसी स्त्रियां ही अपने ससुर सास देवरों और ननदों पर शासन करती थीं।[७] गृहपत्नी की सम्भवतः इसी महत्ता के कारण बाद में उसके नाम की एक देवी की भी पूजा प्रचलित हो गई जिसे नई फसल का कुछ अन्न अर्पित किया जाता था।[८] इसका भी

१- पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव। १४,१,५१

२- यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम्।
अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु।। १४,२,२०

३- प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनस्य दाता। १६,५५,३

४- गृहमेधी गृहपतिं मा कृणु। १६,३१,१३

५- गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि। १४,१,२०

६- अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य।। १४,२,१८

७- साम्राज्ञ्येधि श्वसुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः।। १४,१,४४

८- त्रिंशत् मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः। ३,२४,६

(३) पितृ प्रधानता :- कुल में माता की अपेक्षा पिता का अधिक महत्व था । क्योंकि बहुत से उदाहरणों से यह बात ज्ञात होती है कि कुल का नाम पिता के नाम पर ही रखा जाता था । विशाल के वंशज को वैशालेय,[२] तथा वीतहव्य के वंशज को वैतहव्य,[३] कहा जाता था । इसी प्रकार इरावन्त के पुत्र को ऐरावत,[४] नृषद ऋषि के पुत्र कण्व को नार्षद[५] और अंगिरा के पुत्र को आंगिरस[६] कहा गया है । इन उदाहरणों से पितृ प्रधान कुलों की स्थिति ज्ञात होती है ।

(४) परिवार के सदस्यों का पारस्परिक संबंध :- एक सूक्त[७] से ज्ञात होता है कि परिवार के सभी सदस्य कुटुम्ब की एकता के लिये प्रयत्नशील रहते थे । उनके समक्ष सदा मंगलमय आदर्श वर्तमान था । वे परिवार की एकता के लिये अभिचार करते थे । इसी प्रकार एक अभिचार में कहा गया है कि परिवार के सभी व्यक्ति एक दूसरे वैसे ही प्यार करें जैसे गाय अपने नवजात बछड़े से ।[८] उनकी यह अभिलाषा था कि, पुत्र पिता के आदेशों (व्रत) का पालन करे तथा माता के मनोनुकूल होवे । स्त्री पति के साथ शांति पूर्वक रहते हुए मधुरभाषिणी बने । न तो एक भाई दूसरे भाई से द्वेष करे और न बहन बहन से । वे मन में एकता की भावना रखते हुए संयमित और कल्याण-मय वचन बोलें ।[९]

१- उक्त १४,२,१८

२- तस्यास्तक्षक वैशालेयो वत्स आसीत् । ८,१०,२९

३- तं वीतहव्य आभरद् असितस्य गृहेभ्यः । ६,१३७,१. ५,१८,१०

४- तां धृतराष्ट्र ऐरावतो धोक् । ८,१०,२९

५- ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन । ४,१९,२

६- आङ्गिरसामयन पूर्वो अग्निः । १८,४,८

७- ३,३०

८- अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या । ३,३०,१

९- अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु भद्रया ।। ३,३०,२
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत शान्तिवाम ।। ३,३०,३
कौशिक ने अथर्ववेद के बहुत से 'सांमनस्यानि' सूक्तों का उद्धृत किया है (कौ० सू० १२,५-९) जिसमें से उक्त सूक्त एक है ।

थर्ववैदिक काल में विवाह एक निश्चित एवं विकसित सामाजिक रीति बन
ा । इस वेद के सम्पूर्ण चौदहवें काण्ड के एक सौ उनतालिस मंत्रों में
संस्कार का अत्यंत विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है । यद्यपि सम्पूर्ण
पकीय वर्णन बनाया गया है, जिसमें सूर्य पुत्री सूर्या के विवाह का क्रमबद्ध
है । तथापि विषय वस्तु में कितनी भी कल्पना क्यों न हो उनसे तत्कालीन
विधि की सम्यक झलक प्राप्त होती है । घर का मधुर और स्नेहमय वातावरण
के साथ विवाहित प्रेममय जीवन तथा उसके फलस्वरूप होने वाली संतान
लनपोषण आर्यों को अत्यंत प्रिय था । धार्मिक चेतना के विकास होने पर
एक निरी सामाजिक आवश्यकता ही न रहा, अपितु वह प्रत्येक व्यक्ति
अनिवार्य धार्मिक कर्तव्य समझा जाने लगा ।[1]

<u>र का अन्वेषण (पतिवेदन)</u> :- कुमारी कन्या को विधि पूर्वक आचरण युक्त
बिताना पड़ता था क्योंकि तभी उन्हें युवा पति प्राप्त हो सकता था ।[2]
ाप्ति के लिये समाज में अभिचारों और प्रार्थनाओं का भी प्रयोग होता था ।
ह सम्बन्धी इस कृत्य को पतिवेदन कहा गया है ।[3] यहां धाता के सत्य
न प्राप्त करने के कर्म का उल्लेख है ।[4] विवाह के प्रसंग में अन्यत्र धातृदेव को ही
ढूंढने वाला कहा गया है ।[5] इस (कन्या) के लिये मेधावी धाता ने वर ढूंढा ।[5]
थल पर सोम को भी वर का अन्वेषक कहा गया है ।[6] मनोवांछित पति
त के लिये किये गये उक्त पतिवेदन संस्कार में सविता से प्रार्थना की गई है
इच्छित पति को लावें ।[7] हे अग्नि, यह कुमारी सौभाग्य से पति को प्राप्त

द्धृत हि०सं० पृ १९५, (हिन्दी) - डा० राजबली पाण्डेय
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । ११,५,१८
ातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् । २,३६,२
ौशिक (३४,१३,) ने इस सूक्त (२,३६) का प्रयोग वर प्राप्ति के लिये किया है
ही २,३६,२
ाता विपश्चित पतिमस्यै विवेद । १४,१,५४
ोमो वधूयुरभवत् । १४,१,९
ा ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः पतिकाम्यः। २,३६,८

ो ।[१] हे अग्नि, यह नारी पति को प्राप्त करे क्योंकि राजा सोम उसे प्रदान करते हैं । वह पुत्रों को ही जन्म देते हुये महिषी का पद प्राप्त ह पति के घर जाकर अपने सौभाग्य से शासन करे ।[२] उसे पति बनाने के ग्य वर लावो ।"[३] अन्यत्र भी धातृदेव से प्रार्थना की गई है कि इस कन्या मनचाहा पति निर्मित करे ।[४] अर्यमन् देव केवल कन्याओं के वर ढूढ़ने वाले हैं ही नहीं अपितु वर के लिये भी कन्या ढूढ़ने वाले कहे गये हैं ।[५] यद्यपि विवरण देव प्रार्थना और अभिचार सिद्धि के प्रसंग में आये हैं परन्तु इनसे न समाज में वर ढूढ़ने की प्रथा का भी ज्ञान होता है ।

<u>वाह योग्य वय</u>:-:- ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्ववैदिक काल में विवाह कसित व्यक्तियों का सम्बन्ध माना जाता था । पिता के घर में ही वृद्ध ो वाली (अमा-जुर) अथवा विवाह की इच्छा से अपने को अलंकृत रखने वाली क कन्याओं के संदर्भ द्वारा यह बात सिद्ध होती है ।[६] एक स्थल पर उत्सवों े लिये संभोग्य कुमारी का उल्लेख है ।[७] अन्य स्थल पर कानीनज शब्द आया का अर्थ माधव ने कन्या का पुत्र किया है ।[८] वर से यह अपेक्षा की जाती उसका अपना एक स्वतंत्र घर होगा जिसकी सम्राज्ञी उसकी पत्नी होगी, भले ी कारण वश वर के पिता, भाई और बहनें घर पर क्यों न रहें और ार घरेलू जीवन में पत्नी को सर्वोच्च स्थान दिया जाता था ।[९] यदि कन्या टी आयु होती तो ये उत्तरदायित्व वह कैसे सम्भाल सकती थी ? विवाहित

नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदियां कुमारीं सह नो भगेन ।
टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगमस्त्वस्यै । २,३६,१
अग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति ।
ाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा विराजतु ।। २,३६,३
ोपप्रतारय यो वर: प्रतिकाम्य: । २,३६,५
तास्या अग्रुवे पतिं दधातु प्रतिकाम्यम् । ६,६०,२
या इच्छन्नग्रुवै पतिमुत जायामजानये । ६,६०,१
जगह स्त्री का इच्छुक व्यक्ति इन्द्र से स्त्री पाने की प्रार्थना करता है, तेन ायिते जायां मह्य धेहि शचीपते । ६,८२,३
वाह में अर्यमा की पूजा होती थी क्योंकि वे पति प्राप्त करने वाले कहे गये हैं मिणं यजामहे सुबंधुं पतिवेदनम् । १४,१,१७
टव्य वै० इं० पृ० ५३६ (हिन्दी)
ारीं.....जुष्टावरेषु समनेषु । २,३६,१
ष्टव्य, डा० राजबली पाण्डेय - हिन्दू संस्कार, पृ० २३५ (हिन्दी)
ज्ञ्येधि श्वसुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु ।
नान्दु: सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्रा :।। १४,१,४४

शिशुओं के माता पिता हो सकते थे ।[1] पाणिग्रहण तथा सहवास अथर्ववैदिक विवाहन का अनिवार्य अंग है । घर आयी वधू से वर कहता है, हे वधु, तुम प्रसन्न मन से इस पर्यंक पर आरूढ़ हो और मेरे लिये संतति उत्पन्न करो ।[2] इस विवरण से भी स्पष्ट है कि कन्या का विवाह प्रौढ़ावस्था में,उसके रजो दर्शन के पश्चात् ही होता था ।[3] इस प्रकार विवाह में सर्वप्रथम कन्या और वर के गुण दोषों पर विचार कियाजाता था । वर के मित्र सम्भवत: वधू के पिता के घर जाकर विवाह का प्रस्ताव रखते थे जैसे सूर्या के विवाह के लिये सोम की ओर से अश्विनी कुमार गये थे ।[4]

(ग) विवाह संस्कार :- अथर्ववेद से तत्कालीन विवाह संस्कार पर विशद् प्रकाश पड़ता है । इसका विवरण धार्मिक कृत्य के अंतर्गत दिया गया है ।[5]

(घ) बहु विवाह :- इस काल में पुरूष एक से अधिक पत्नियों को रख सकता था । उसकी अन्य पत्नियां सपत्नी कहलाती थीं । एक मंत्र में सपत्नी के विरूद्ध एक औषधि का प्रयोग किया गया है । इससे उन का विश्वास था कि पत्नी अपने पति पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेती और सपत्नी उसे नीचे हो जाती है ।[6] इसके अतिरिक्त राजा नियमित रूप से तीन पत्नियां रखता था । जिन्हे क्रमश: महिषी, परिवृक्ती, और वावाता कहा जाता था । महिषी ही प्रधान होती थी । निरंतर पुत्रों को जन्म देने वाली नारी को भी महिषी का पद मिलता था ।[7] परिवृक्ती स्त्री

१- सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा विराजतु । २,३६,३

२- आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै । १४,२,३१

३- द्रष्टव्य हि० सं० पृ २३४ ।

४- सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा । १४,१,८

५- द्रष्टव्य पृ० अग्रिम पृ० १३६-१४४

६- इमां खनाम्योषधिं वीरूधां बलवत्तमाम् ।
यया सपत्नी बाधते यया स विन्दते पतिम् ।। ३,१,८१
अध: सपत्नी या ममाधासाधराभ्य: । ३,१८,४

७- इयमग्ने नारी.....सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति ।। २,३६,३

स्त्री माना है। राजा की सबसे प्रिय स्त्री को ववाता कहा जाता था।[3]

(ग) बहुभर्तृत्व :- बहुभर्तृत्व की प्रथा अथर्ववैदिक नहीं है। एक भी स्थल ऐसा नहीं मिलता जहाँ इसके प्रचलन का स्पष्ट संकेत हो। कुछ ऐसे मंत्र मिलते हैं जिनमें एक पत्नी के लिये पतियों का उल्लेख है।[4] परन्तु वेबर[5] इसे ऐश्वर्याभि व्यक्ति मात्र के लिये प्रयुक्त मानते हैं।

(घ) विधवा विवाह :- अथर्ववेद के अन्त्येष्टि काण्ड में मृत पति के साथ पुरानी प्रथा (धर्म) का पालन करती हुई एक स्त्री का पति की चिता पर लेटने का वर्णन है।[6] इससे प्रतीत होता है कि बहुत सी स्त्रियाँ पति के मरने पर चिता में जल जाती थीं। किन्तु कुछ दूसरा विवाह कर लेती थीं। क्योंकि उक्त प्रसंग में आगे के मंत्र में जलने के लिये उद्यत एक स्त्री का हाथ पकड़ कर उठाये जाने का संदर्भ है। हे नारी, उठो, इस जीव लोक में आओ। तुम उस व्यक्ति के पास सोयी हो जिसके प्राण निकल चुके हैं, तुम यहाँ उसके पास आओ जो तुम्हारा हाथ पकड़ता है वह तुम्हारा भरण पोषण (दधिषोः) करने वाला है अब तुम पति और पत्नी के संबंध से युक्त हो।[7] अगले मंत्र में उस व्यक्ति को गोपति कहा गया है। यह गोपति तुम्हारा है इससे प्रेम करो।[8] इससे अवगत होता है कि चिता पर लेटने वाली स्त्री गोपति के परिवार की थी और गोपतियों (वैश्यों) में विधवा विवाह का प्रचलन था। एक दूसरे मंत्र से भी विधवा

१- ग्रिफिथ, अथर्ववेद का अनुवाद, भाग २, पृ० ४३६ में परिवृक्ता को अर्थ करते हैं।
परिवृक्ता च महिषी। २०,१२८,१०

२- उद्धृत वै०इं० भाग १, पृ० ५४२

३- वावाता च महिषी २०,१२८,११ द्रष्टव्य ग्रिफिथ का अथर्ववेद अनुवाद, वही पृ० ४३६ जहाँ वे इसे अत्यन्त अनुकूल प्रियतमा कहते हैं

४- आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम्। १४,१,६१

५- आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम्। १४,२,१

५- वेबर, उद्धृत - वै०इं० भाग १, पृ० ५४५

६- इयं नारी पतिलोकं वृणाना ... धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि।। १८,३,१

७- उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ।। १८,३,२

८- अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम्। १८,३,४

।११।६ पर प्रकाश पड़ता है। इसमें कहा गया है कि पंचौदन प्रदान करने वाली स्त्री दूसरे पति के साथ भी परलोक प्राप्त कर सकती है।[१] दूसरे पति का वरण करने वाली स्त्री पुनर्भू कही जाती थी।[२] और दूसरा पति दाधिषु[३] कहा जाता था। इस काल में विधवा की स्थिति अच्छी नहीं थी क्योंकि अन्यत्र कहा गया है कि यह स्त्री विधवा न हो और कज्जल युक्त नेत्रों वाली गृहिणी बनी रहे।[४]

४. स्त्री जीवन

अथर्ववेद में तत्कालीन नारी के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन मिलता है।

(क) कन्या :- तत्कालीन समाज में ~~इस-समय~~ पुत्री का जन्म पुत्र की अपेक्षा निश्चित रूप से अच्छा नहीं समझा जाता था। क्यों कि इस काल में पुत्र प्राप्ति के लिये एक संस्कार विशेष का प्रचलन हुआ जिसे पुंसवन संस्कार कहते हैं। उसमें कहा गया है कि हे प्रजापति, अनुमति और सिनीवालि तुम्हीं ने इस गर्भ को बनाया है स्त्री का जन्म कहीं और हो परन्तु इस गर्भ में पुरूष संतति आवे।[५] इसी प्रकार अन्य सूक्त में भी पुत्र जन्म के लिये अभिचार किया गया है।[६] गर्भ संरक्षण के एक संदर्भ में कहा गया है कि हे पीत, उत्पन्न होने वाले पुत्र की रक्षा करो उसे स्त्री न बनाओ।[७] लेकिन जन्म के पश्चात पुत्री को फेंक देने का कहीं भी प्रकरण नहीं प्राप्त होता

१- या पूर्वं पतिं वित्वाथान्यं विन्दते पतिम् ।
 पंचौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः ।।
 समान लोको भवति पुनर्भुवापर: पति: । ९,५,२७-२८

२- वही ९,५,२८

३- वही १८,३,२

४- इमा नारीरविधवा: सुपत्नीरांजनेन । १८,३,५७

५- प्रजापतिरनुमति: सिनीवाल्यचीक्लृपत् ।
 स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह ।। ६,११,३

६- ३,२३

७- ~~पिंग रक्ष~~ पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन् । ८,६,२५

(ख) कुमारी :- विवाह योग्य स्त्री को कुमारी कहा गया है।[१] इसी अर्थ में कन्या या कन्यला शब्द भी प्रयुक्त हुआ है, 'ये कन्यायें पिता के घर से पति के घर जाने की इच्छा करती हैं।'[२] हे राजन, यह कन्या तुम्हारी वधू बने, यह तुम्हारे कुल की रक्षा करने वाली है हम इसे तुम्हें प्रदान करते हैं।[३] इनके मन में पति प्राप्ति की अभिलाषा रहती थी।[४]

(ग) पत्नी :- इसका वर्णन गृहपति के प्रसंग में किया जा चुका है।[५] पति और पत्नी के वैधानिक सम्बन्धों विवरण नहीं के बराबर है। फिर भी पत्नी पति के साथ शान्ति और प्रिय वचन बोलती हुई प्रदर्शित की गई है।[६] वह वर के साथ सामाजिक उत्सवों (समनेषु) में भाग लेती थी[७] और वह विदथ नामक संस्था में भाषण भी देती थी।[८] वह पति के अतिरिक्त सास और श्वसुर के अनुकूल भी रहती थी।[९] इस प्रकार इस काल की नारी समर्थ स्त्री है जो घर के कार्यों को[१०] सम्भालती हुई भी पति की प्रियतमा के रूप में वर्णित है।

(घ) माता :- समाज में माता का आदरणीय स्थान था। पुत्र सदा माता के अनुकूल आचरण करता था।[११] माता स्नेह और दया की प्रतिमूर्ति थी। वह पुत्र को अपने स्तनों के दूध से सींच कर बढ़ाती थी।[१२]

१- इमां कुमारी.....जुष्टा वरेषु समनेषु। २,३६,१

२- उशती: कन्यला इमा: पितृलोकात् पतिं यती। १४,२,५२

३- एषा ते कन्या वधूर्निधूयतां यम।
एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि॥ १,१४,२३

४- एयमगन् पतिकामा। २,३०,५

५- द्रष्टव्य पृ० ६६-६९ पीछे

६- जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्। २,३०,२

७- जुष्टा वरेषु समनेषु। २,३६,१

८- गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो त्वं विदथमा वदासि। १४,१,२०

९- सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभू:।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान्॥ १४,२,२६

१०- द्रष्टव्य टिप्पणी नं० २ में कुलपा।

११- अनुव्रत: पितु: पुत्रो मात्रा भवतु संमना। ३,३०,२

१२- माता पुत्रं यथा। सिचाभ्येनं भूम उर्णुहि। १८,३,५०

पुत्रों को ही जन्म देने वाली माता का समाज में श्रेष्ठ स्थान था ।[2] राजा के घर में पुत्रों को जन्म देने वाली स्त्री को महिषी का पद मिलता था ।[3]

५. वस्त्र और आभूषण

पहनने के कपड़ों को वस्त्र कहा जाता था । जो शरीर की रक्षा करते थे ।[4] एक मंत्र में विश् (कुलों) द्वारा वस्त्र प्राप्त करने का वर्णन है ।[5] दूसरे मंत्र में कहा गया है कि जो व्यक्ति यज्ञ में पंचौदन पकाकर ब्राह्मणों को देता है उसे पांच प्रकार के नवीन वस्त्र मिलते है ।[6] विवाह के समय वधू को जो कपड़े पहनने के लिये दिये जाते थे उन्हे 'वाधूय' वस्त्र कहा जाता था ।[7]

(क) वस्त्रों के प्रकार :- उस समय पहने जाने वाले वस्त्रों के विभिन्न नाम प्राप्त होते हैं ।

नीवि :- यह नीचे पहने जाने वाले वस्त्र का नाम है ।[8] यह कटि-भाग में धारण किया जाता था[9] जिसे स्त्री और पुरूष दोनों पहनते थे । एक मंत्र में 'नीवि-भार्य' शब्द आया है[10] जिसे वैदिक इन्डेक्स के लेखक११ वस्त्र में धारण किये जाने के अर्थ में स्वीकार करते हैं । एक

१- स मा वधीत् पितरं वर्धमाना मा मातरं +
   प्र मिनीज्जनित्रीम् । ६,११०,३

२- पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।
   भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान् । ३,२३,३

३- सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति । २,३६,३

४- वर्म वासांसि तन्वे भवन्ति । ९,५,२६

५- मे वस्त्राणि विश एरयन्ताम् । ५,१,३

६- पञ्च नवानि वस्त्रा .... अस्मै भवन्ति ।
   योजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ।। ९,५,२५

७- वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम् । १२,२,४१

८- वै० इं० भाग १, पृ० ५१६ (हिन्दी)

९- गर्भं तं उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ । ८,६,२०

१०- वही ८,६,२०

११- वै० इं० वही पृ० ५१६

शरीर है उसे यह वस्त्र मयमीत करता है, (अत:) पहले तुम इसे अपने भीतर लपेटो और हमें उससे क्षति न पहुंचे।[१] दूसरी जगह कथन है कि जो ढकने वाला वस्त्र है और जो नीचे पहने जाने वाला वस्त्र है उसे हम तुम्हारे शरीर के लिये कल्याणकारी करते हैं जिससे वह तुम्हारे स्पर्श के लिये कठोर न हो।[२]

उपवासस् :- शरीर ढकने वाले वस्त्र को उपवासस् कहा जाता था।[३] इसी अर्थ में द्रापि शब्द भी मिलता है[४] जो उत्तरीय वस्त्र का प्रतीक है। बिना रंगा हुआ ऊनी या रेशमी वस्त्र तार्प्य कहा जाता था।[५]

कम्बल :- इस काल में कम्बल भी प्रयुक्त होता था।[६]

अजिन :- इसको वैदिक छात्र पहनता था।[७] इसका प्रयोग यज्ञ यज्ञादि में भी होता था। इसी प्रकार दूर्श भी एक परिधान है।[८]

उष्णीष :- एक पुरुष पगड़ी पहने हुए है।[९] कशिपु और उपबर्हण शब्द क्रमश: तकिये और गद्दे के लिये प्रयुक्त होता था।[१०] स्त्रियाँ सम्भवत: रंगीन वस्त्र भी पहनती थीं क्योंकि एक मंत्र में एक नारी लाल रंग का वस्त्र पहने हुए चित्रित है[११]।

१- या मे प्रियतमा तनू: सा मे बिभाय वासस: ।
तस्याग्रे त्वं वनस्पते नीविं कृणुष्व मा वयं रिषाम ।। १४,२,५०
उक्त अनुवाद व्हिटने के अनुसार है ।

२- यत् ते वास: परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम् ।
शिवं ते तन्वेतत् कृण्म: संस्पर्शे दूक्ष्णमस्तु ते ।। ८,२,१६

३- उपवासने..... १२,२,४६, ६५

४- द्रापयेरात्या: ५,७,१०, यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते ।१३,३,१

५-वै० इं० भाग २, पृ० ३२६ (हिन्दी)

६- सम्मले मलं सादयित्वा कम्बले दुरितं वयम् । १४,२,६७

७- हरिणस्याजिनेन च । ५,२१,७

८- कार्श्यं वसानो । ११,५,६

९- वासोहिरण्योष्णीषं । १५,२,५

१०- यत् कशिपूपबर्हणमाहरन्ति परिधय एव ते । ९,६,१०

११- अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहित वासस: । १,१७,१

ओपश और कुरीर शब्द आये हैं ।[१] सायण इन्हें स्त्रियों के केशों से संबंधित अलंकरण मानते हैं ।[२] एक मंत्र में वधू के केश श्रृंगार में कुरीर और ओपश का उल्लेख हुआ है ।[३] पुरुष सम्भवत: बाल कटवाता था । एक जगह नाई (वप्ता) उस्तुरे (क्षुर) से दाढ़ी (श्मश्रु) और बाल (केश) काटते हुए दिखाया गया है ।[४] केशों की संरक्षा के लिये केश-वर्धिनी औषधि का प्रयोग किया जाता था ।[५] ब्राह्मण और मुनि लोग दाढ़ी रखते थे ।

६. खाद्य और पेय

(क) खाद्य :- आर्यों ने अन्न की भूरि भूरि प्रशंसा की है ।[६] इसी हेतु वे जौ और धान्य की उत्पादिका पृथिवी की भावुकता पूर्ण प्रार्थना करते हैं ।[७]

अथर्ववेद के समय में जौ और चावल का प्रमुख रूप से उत्पादन होता था । इन दो अन्नों का नाम साथ साथ प्राप्त होता है । इनकी उपयोगिता के कारण ही इन्हें स्वर्ग के दो पुत्र और औषधि कहा गया है ।[८] एक मंत्र में जौ और चावल (व्रीहि) खाने का वर्णन है ।[९] सम्भवत: जौ को पीस कर पुरोडाश बनता था और खाने के पूर्व उसमें घी लगा दिया जाता था ।[१०] इस प्रकार पुरोडाश यज्ञीय चपाती को

१- क्लीवं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि ।
कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधि निदध्मसि ।। ६,१३८,२-३

२- मंत्र ६,१३८,३ सायण कुरीरम् केशजालं कुम्बम् तदाभरणं ।

३- कुरीरं छन्द ओपश: १४,१,८

४- यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु । ८,२,१७
अयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन उदकेनेहि । ६,६८,१

५- उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धिनी: । ६,२१,३

६- दीर्घश्मश्रु ११,५,६

७- यस्यामन्नं व्रीहियवौ.....भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोस्तु । १२,१,४२

८- व्रीहियवौ भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ।। ८,७,२०

९- व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम् । ६,१४०,२

१०- पुरोडाशावाज्येनाभिघारितौ । १०,९,३०

घी, मधु, सुरोदक आदि के मिश्रण से पके चावल को ब्रह्मास्यौदन कहा जाता था।[1] पके चावल (ओदन) में मधु और घी मिलाने से स्वर्गौदन बनता था।[2] इसी प्रकार पांच प्रकार के पके चावल से पंचौदन[3] तथा शतौदन आदि भी।[4] इस काल में सांवा (श्यामाक) का भी भात (चावल) बनाया जाता था।[5] भोजन का अन्य अन्न उड़द (माष) भी था।[6]

मांस :- अतिथि के सत्कार में मांस खिलाने का उल्लेख है।[7] अत: कुछ लोगों के भोजन में मांस का भी स्थान रहा होगा। परन्तु गोमांस नितांत वर्जित था। गायों को अवध्य समझा जाता था और उनका नाम ही अघ्न्या रखा जाता था।[8] गायों को काटना क्रूरता थी और उनका भक्षण निर्दयता।[9] जो वशा (वन्ध्या) गाय को अपने घर पकाता था उसकी सन्तान नष्ट समझी जाती थी।[10]

(ख) पेय :- इस काल के भोजन में पेय का भी स्थान था। भोजन में दूध का विशिष्ट स्थान था। गायों का पालन अधिक मात्रा में होता था। धेनु गायें बहुत दूध देती थीं।[11] गृष्टि गाय का दूध अमृत के समान मिठा कहा गया है।[12] पृथिवी से लोग प्रार्थना करते थे कि वह दूध का स्रोत बहावे।[13]

१- घृतह्रदा मधुकूला: सुरोदका क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना। ४,३४,६
यहाँ ब्रह्मास्यौदन का वर्णन किया गया है।

२- मा तण्डुलं वि शरीर्देवयन्तम्। विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम्। १२,३,१८-१६

३- पञ्चौदनं तावजं ददातो न वियोजत:। ६,५,२७

४- यत् ते चर्म शतौदने। १०,६,२४

५- यथा श्यामाक: पपतन्न वपान्नानु विद्यते। १६,५०,४
श्यामाकं पक्वं। २०,१३५,१२

६- व्रीहिमन्नं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्। ६,१४०,२

७- स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति। ६,६,४१

८- यावतीनामोषधीनां गाव: प्राश्नन्त्यघ्न्या:। ८,७,२५ और ८,३,१५

९- क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते। ५,१६,५

१०- यो वहतं मन्यमानो मा पच्यते वशाम्।
अप्यस्य पुत्रान् पौत्रान् याचयते बृहस्पति:॥ १२,४,३८

११- यज्ञं दुहानं सदमित् प्रपीनं पुमांसं धेनुं सदनं रयीणाम्। ११,१,३४

१२- दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना। ८,६,२४

१३- सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहाम्। १२,१,६

किस प्रकार तैयार किया जाता था यह ज्ञात नहीं होता । एक मंत्र में सुरोदक का उल्लेख मिलता है ।[2]

सोम :- आर्यों को सोम-पान अत्यन्त प्रिय था । इसके पीने से सम्भवत: विष का भी प्रभाव समाप्त हो जाता था ।[3] यज्ञ विशेष के अवसर पर ~~किमम~~ इसका पान किया जाता था । इसके पीने के पूर्व ऋत्विज लोग इन्द्र को अर्पित कर देते थे ।[4] रस निकालने के लिये सोम के पौधे को ग्रावा (पत्थर विशेष) से कूटा जाता था ।[5]

मधु :- भोज्य पदार्थों में मधु भी सम्मिलित थी । अतिथि के भोजन में मधु दिया गया है ।[6] मधु यज्ञीय भोजन में भी पड़ती थी । सवयज्ञ में ओदन (भात) में मधु मिलाकर ब्रह्मास्यौदन तैयार किया जाता था।[7] पितरों के लिये निर्मित पिण्ड (अपूप) में भी मधु पड़ती थी ।[8] एक व्यक्ति कामना करता है कि, मेरी जिह्वा के अग्रभाग और मूल में मधु है[9], मेरी चाल माधुरी है, मैं मधुयुक्त वचन बोलता हूं, मैं मधु के सदृश बनूं ।[10]

१- तं रस्मा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् । १५,६,२

२- घृतह्रदा मधुकूला: सुरोदका । ४,३४,६

३- स सोमं प्रथमं पपौ स चकाररसं विषम् । ४,७,१

४- युज्यन्ते यस्मामृत्विज: सोममिन्द्राय पातवे । १२,१,३८

५- ६,६,१५

६- स य एवं विद्वान् मधुपुपसिच्योपहरति । ६,६,३६

७- वही ४,३६,६

८- अपूपवान् मधुमांश्चरुरेह सीदतु ।। १८,४,२२

९- जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधुलकम् । १,३४,२

१०- मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृश । १,३४,३

मधु कद।।चत् वन ॥। ठोाथ्या स ।नका।ता जातदि ना ।१

तेल :- इस काल में भोजन में तेल का भी उपयोग किया जाता था । एक मंत्र में तैलकुण्ड का उल्लेख है ।[2] एक प्रसंग में अग्नि को तिल का तेल समर्पित किया गया है ।[3]

इस प्रकार। उक्त विवरण में इस काल के उन्नत भोजन व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है ।

७. घरेलू सामान

अथर्ववेद में अनेक नित्य आवश्यकता की वस्तुओं के विषय में विवरण मिलता है ।

(क) पात्र :- एक मंत्र से ज्ञात होता है कि भोजन करने के लिये पात्र होते थे ।[4] इस मंत्र में अतिथि के लिये भोजन परोस कर ले जाने वाले परिवेष्ट्री का उल्लेख है । एक जगह पात्र का उपयोग अन्न रखने के लिये किया गया है । 'जौ इतना अधिक होवे कि समस्त बर्तनों को पूर्ण करके बाहर निकल आवे'।[5] इस समय के कुछ प्रमुख पात्र ये हैं -

स्रुक :- एक छोटे से चम्मच के समान होता था । इसका प्रयोग हवन करते समय घी डालने के लिये होता था । इसका कई मंत्रों मे उल्लेख है ।[6] इसका दूसरा नाम दर्वि है जो बाद

१- वना: शाखां मधुमतीमिव । १,३४,४

२- तैलकुण्डमिवाङ्गुष्ठं रोदन्तं शुद्भमुद्धरेत् । २०,१३६,१६

३- अग्ने तैलस्य प्राश्मन् यातुधानान् विलापय । १,७,२
'तैलस्य' के लिये द्रष्टव्य, व्हिटने अथर्ववेद संहिता का अनुवाद पृ० ७

४- यत् परिवेष्टार: पात्रहस्ता । ६,६,३

५- उच्छ्रयस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव ।
मृणीहि विश्वा पात्राणि ।। ६,१४२,१

६- ६,६,१७. ६,११४,३. ५,२७,५ इत्यादि ।

में दाल चलाने वाली कुलछुल के लिये रुढ़ि हो गया, 'हे घृतपूर्ण दर्वि, तू पूर्ण होकर अग्निहोत्र की अग्नि में बार बार पड़ ।[१]

द्रोणकलश :- सोम रस रखने के बड़े लकड़ी के पात्र को द्रोणकलश कहा जाता था ।[२] कभी कभी वेदिका को भी द्रोण जैसे आकार का बनाया जाता था ।

कुम्भ :- यह मिट्टी का बना पात्र है जो यज्ञ एवं सामान्य रूप में व्यवहृत होता था ।[३]

कंस :- यह धातु या मिट्टी का बर्तन है । इसमें पानी भर कर ले जाया जाता था और इसमें दूध भी रखा जाता था ।[४]

चमस :- यह देवों के पात्र के रूप में उद्धृत है ।[५] यह उदुम्बर की लकड़ी का बना हुआ यज्ञ पात्र है जिसमें यज्ञ करने के समय सोम रखा जाता था ।[६]

वायव्य :- यह यज्ञ में सोम-पान करने वाला पात्र है ।[७]

इस काल में मिट्टी के अतिरिक्त धातु के पात्र भी होते थे । असुरों का पात्र अयस् (लोहा) से बना हुआ माना जाता था ।[८] पितरों का पात्र चांदी का होता था ।[९] एक जगह

१- पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत । ३,१०,७

२- द्रोण कलशा: ६,६,१७ दृष्टव्य वै०इ० भाग १ पृ० ४३१ (हिन्दी)

३- १,६,४. ३,१२,७. ६,६,१७.

४- शतं कंसा: शतं दोग्धार: । १०,१०,५

५- चमस: पात्रं पात्रम् । ८,१०,२६

६- ७,११५,३ पर दृष्टव्य सायण 'चमन्ति अदन्ति अत्र सोमम् इति चमस:'

७- वायव्यानि पात्राणि । ६,६,१७

८- अयस्पात्रं पात्रम् । ८,१०,२२

९- रजतपात्रं पात्रम् । ८,१०,२३

लौका (अलाबु) के पात्र का उल्लेख है ।[1]

(ख) <u>बैठने और सोने की सामग्री</u> :- इस समय बैठने और सोने के लिये विभिन्न उपकरण बने थे ।

<u>आसन्दी</u> :- बैठने के लिये आसन्दी होती थी ।[2] एक स्थान में व्रात्य के लिये लाये गये आसन का वर्णन है ।[3] इसमें दो पाये, और बड़े तथा तिरछे टुकड़े लगे थे । यह रस्सियाँ केन लाने लाने से बनी गई थी । इससे यह प्रतीत होता है कि आसन्दी लकड़ी और रस्सियों की बिनावट से बनी थी । इस पर गद्दा (आस्तरण) बिछा था और तकिया (उपबर्हण) लगा था इसमें एक बैठने के लिये आसन (आसाद) और पीछे टिकने के लिये आश्रय (उपश्रय) भी बना था ।[4] व्हिटने इसे एक ऊंची आराम कुर्सी कहते हैं ।[5]

<u>उपधान</u> :- गद्दे को उपधान कहा जाता था ।[6]

<u>पर्यङ्क</u> :- इस का अर्थ सिंहासन किया गया है ।[7] यह लेटने का आसन भी होता था ।

<u>तल्प</u> :- यह शब्द नियमित रूप से शैय्या के लिये प्रयुक्त हुआ है । एक मंत्र में विवाह के पश्चात् वर वधू को शैय्या पर आने का आग्रह किया गया है ।[8]

१- अलाबु पात्रं पात्रम् । ८,१०,२९

२- यदासन्द्यामुपधाने । १४,२,६५

३- १५,३,२

४- द्रष्टव्य वै० इं० भाग १, पृ० ८० (हिन्दी)

५- व्हिटने अथर्ववेद का अनुवाद, पृ० ७६५, एवं उसकी आलोचना पृ० वही ७६५

६- १४,२,६५

७- व्हिटने वही पृ० ७६५

८- आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह । १४,२,३१

(ग) अन्य सामान :-

शूर्प :- यह आधुनिक सूप है। इसके द्वारा अन्न से भूसी अलग की जाती थी। भूसी को तुष कहा जाता था।[१]

उलूखल :- इसमें अन्न कूटा जाता था। यह यज्ञीय वस्तुओं में से भी एक है। एक मंत्र में अतिथि के लिये धान (व्रीहि), यव आदि को उखल में कूटने को वर्णन है।[२] वर्तमान समय में भी उखल का प्रयोग इसी प्रयोजन के लिये होता है।

मूसल :- उखल के साथ मूसल का भी उल्लेख हुआ है। इससे अन्न कूटा जाता था।

जाल :- मछली मारने आदि के लिये जाल का प्रयोग होता था। अथर्ववेद में इसका शत्रुओं के विरुद्ध प्रयोग किया गया है।[३] एक मंत्र में असुरों का जाल धातु के छड़ों से बना कहा गया है।[४] इससे प्रतीत होता है कि जाल बहुत ही मजबूत होता था।

८. मनोविनोद

यद्यपि मनोरंजन के संबंध में बहुत ही अल्प सामग्री प्राप्त होती है तथापि इससे उनके मनोविनोद के विषय में थोड़ी बहुत बात अवश्य ज्ञात होती है।

(क) नाच-गान :- पृथिवी सूक्त में एक मंत्र में वर्णन है कि लोग प्रसन्न होकर गीत गाते थे और नाचते थे।[५] इसके अतिरिक्त इस विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। इस समय के वाद्यों में दुन्दुभी का उल्लेख है।[६] कदाचित सभा (नरिष्टा) में सदस्यों के मनोविनोद के लिये नृत्य होता था।[७]

१- शूर्पं पवित्रं तुषा ६,६,१६

२- ये व्रीहयो यवा निरुप्यन्तेंऽशव एव ते।
यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते॥ ६,६,१४-१५

३- उक्त ६,६,१५

४- ८,५,८

५- यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबा:।१२,१,४१

६- यस्यां वदति दुन्दुभि:। वही १२,१,४१

७- इमा नरिष्टा नृत्यानि शरीरमनुप्राविशन्। ११,८,२४

(ख) रथ दौड़ :- एक सूक्त में रथदौड़ की चर्चा हुई है। वहां घोड़े के विभिन्न गुणों का वर्णन किया गया है। हे अर्वन्, अर्वन, (तीव्रगामी घोड़ा) जो तुम्हारा वेग गुहा में छिपा है, जो बाज पक्षी में है, और जो तुम्हारा वेग वायु में है, उस वेग से बलवान् होकर हे बाजिन्, तुम इस उत्सव (समन) की दौड़ में सबसे आगे बढ़ जाओ।[१] इससे प्रतीत होता है कि त्योहार विशेष पर रथ दौड़ होती थी। इनमें स्त्री पुरूष सभी भाग लेते थे।[२] अन्यत्र रथदौड़ के साथ ही नाव चलाने और उपवन में घूमने का प्रसंग प्राप्त होता है।[३]

(ग) द्यूत क्रीड़ा :- अथर्ववेद के समय का सबसे महत्वपूर्ण मनोरंजन जुये का खेल था। उनका विश्वास था कि अप्सरायें जुआ खेलने में अत्यन्त निपुण थी। अत: दांव पर रखी धनराशि को जीत लेने के लिये अप्सराओं का आवाहन किया जाता था। मैं उस अप्सरा को बुलाता हूं जो दाव पर रखे हुये ~~कन~~ (धन) को ले लेती है। जो द्यूत के चारों ओर पासे लेकर नाचती है वह माया के सहित मेरे दाव पर आवे और मेरी जीत करावे वह अप्सरा ~~बक्कि-हमें~~ मुझे दूध आदि से पूर्ण करे और वे लोग मुझसे यह धन जीत न सके। वह जुये में (शत्रुओं को) क्रोध और दु:ख लाकर मुझे प्रसन्न करती है। ऐसी अप्सरा को मैं बुलाता हूं।[४]

द्यूत विधि :- पासे को अक्ष कहा जाता था।[५] किसी विशेष पासे का नाम कलि था।[६] जिस स्थान पर पासे फेंके जाते थे उसे अधिदेवन कहा जाता था।[७] ऐसी संख्या जो

१- जवस्ते अर्वन् निहितो गुहाय: श्येने वात उत योचरत परीत: ।
तेन त्वं वाजिन् बलवान् बलेमाजिं जय समनेषु पारयिष्णु: ।
६,९२,३

२- २,३६,१

३- उद्यानं ते पुरूष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्वदथमा वदासि ।।८,१,६

४- विचिन्वती माकिरन्तीमप्सरां साधु देविनीम् ।
ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे ।। ४,३८,२
यायै: परिनृत्यत्याददाना कृतं ग्लहात् ।
सा न: कृतानि सीषती प्रहामाप्नोतु मायया ।
सा न: पयस्वत्यैतु मानो जैषुरिदं धनम् ।। ४,३८,३
आनन्दिनीं प्रमोदिनीमप्सरां तामिह हुवे । ४,३८,४

५- इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी । ७,१०९,१

६- घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे । ७,१०९,१

ग्रां ते चक्र समायां ग्रां चकाधिदेवने । अक्षेषु कैत्यां ।।

जो चार से विभाजित हो जाय उसे कृत कहा जाता था ।[1] कुछ पासे भूरे (बभ्रु) रंग के होते थे ।[2]

दाव पर रखी वस्तुयें :- जुये के दाव पर गायें, घोड़े धन और सुवर्ण रखे जाते थे ।[3] कभी कभी पत्नी भी दाव पर रख दी जाती थी । एक व्यक्ति जुये में लिये गये ऋण। और स्त्री के प्रति पश्चाताप कर करता हुआ दिखाया गया है ।[4]

द्यूत क्रीड़ा में अभिचार :- द्यूत में सफलता के लिए अभिचार भी किये जाते थे ।[5] इस कार्य के लिये तीन सूक्तों का उपयोग किया गया है ।[6] इस अभिचार में द्यूत के पासों (अक्षों) को घी में नहलाया जाता था ।[7] इस अवसर पर अग्नि में अप्सराओं के लिये घृत का हवन किया जाता था ।[8] जिससे प्रसन्न होकर अप्सरायें धूर्त जुआड़ियों को वश में कराती हैं और राज्य तथा प्रभूत प्राप्त कराती हैं ।[10]

१- गृहे कृतानि । वही ४,३८,२ द्रष्टव्य वै०इं० भाग १, पृ० ५ (हिन्दी)

२- अक्षान् यद् बभ्रू नालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे । ७,१०६,७

३- कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहित: ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित् ।।
अक्षा: फलवती द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव । ७,५०,८-९

४- यस्मा ऋणं यस्य जायामुपैमि । ६,११८,३

५- उद्धृत पूर्व ५,३१,६

६- ४,३८, ७,५० और ७,१०९ सूक्तों पर द्रष्टव्य कौशिक सूत्र ४१,१३

७- घृतेन कलिं शिक्षामि । ७,१०९,१

८- घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसूनक्षेभ्य: सिकता अपश्च ।
यथाभागं हव्यदातिं जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि हव्या ।।
७,१०९,२

९- घृतेन सपत्नं मे कितवं रन्धयन्तु । ७,१०९,३

१०- उग्रपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षा: । ....वयं स्याम पतयो रयीणाम ।।७,१०९,६

द्यूत क्रीड़ा से हानि :- द्यूत में महान् हानि उठानी पड़ती थी। धूर्तता से द्यूतकार दूसरों के धन को जीत लेता था। एक समस्त सूक्त में द्यूतकर के प्रायश्चित का हृदयग्राही वर्णन है। "यदि हमने दोनों हाथों से पासे की राशि को लेने की चेष्टा की हो तो डरावनी दृष्टि वाली और अन्धाधुन्ध द्यूत में जीतने वाली अप्सरायें हमें इस ऋण से मुक्त करें। धूर्तता के प्रति उग्र दृष्टि वाली और राष्ट्र को धारण करने वाली (अप्सरायें) हमें द्यूत संबंधी पापों से मुक्त करें तथा द्यूत में दिये गये ऋणों को वापस करावें"।[1] इस प्रकार जूये ~~करने~~ में सम्पूर्ण सम्पत्ति हार जानी पड़ती थी और ~~स्त्री~~ जिसके कारण नाना प्रकार का कष्ट सहना पड़ता था।

१- यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुप लिप्समानाः।
उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः। ६,११८,१
उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत्।
ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत्।।
६,११८,२

तृतीय अध्याय

धार्मिक जीवन

अथर्ववेद में उस समय के जन सामान्य के धार्मिक कृत्यों और विश्वासों का वर्णन मिलता है। इस समय लोग रोगों को दूर करने, दीर्घायु होने, और युद्ध में विजय पाने इत्यादि दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विविध प्रकार के मंत्र गाते और तंत्र करते थे। सारी की सारी अथर्ववेद संहिता ऐसे ही तंत्र मंत्रों से भरी पड़ी है। इस अध्याय में संक्षेप में केवल उन कार्यों का ही वर्णन किया जाएगा जिनके लिये ये तंत्र मंत्र किये जाते थे। संक्षेप में उन देवताओं का भी वर्णन किया जाएगा जिनकी इन तंत्र मंत्रों में सहायता की अपेक्षा समझी जाती थी।

अ धार्मिक कृत्य :- १. विभिन्न कृत्य :-

अथर्ववैदिक कृत्यों का जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में तथा अवसरों पर सम्पादन किया जाता था। कुछ कृत्यों का वर्णन इस प्रकार है।

(१) भैषज्यानि :- अथर्ववैदिक काल में रोगों को दूर करने के लिये कुछ कृत्य किये जाते थे, क्योंकि लोगों का ऐसा विश्वास था कि रोग पिशाचों, राक्षसों और अभिचारकों आदि के कारण उत्पन्न होते हैं। कहीं जगह रोगों और पिशाचों में अन्तर करना कठिन है।[१] इसलिये रोग निवारण के लिये चिकित्सकों की अपेक्षा तांत्रिकों की आवश्यकता समझी जाती थी। ये तांत्रिक पुरोहित होते थे जो किसी तंत्र में देवों का आवाहन कर रोग शान्त करते थे। एक तक्मनाशन सूक्त में तक्मन् (ज्वर) को भगाने

१- अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीन् धनपते जहि।
हता विश्वा अरातय: उग्रेण वचसा मम ।। ५,२३,२
यहाँ कीट के नाश होते ही सम्पूर्ण पिशाचों के नाश का उल्लेख हुआ है। अत: रोग कीटाणु और पिशाच में तादात्म्य स्थापित किया गया है।

के लिये अग्नि, सोम, वरुण और आदित्य देवों की सहायता आवश्यक मानी गई है ।[१] इसके उपचार में पीतल के बर्तन में रखे काले धान के लावा (लाजा) को रोगी के सिर से अग्नि में हवन किया जाता था ।[२] दाय, कुष्ठ आदि (क्षौत्रिय) रोगों से मुक्ति के लिये एक तंत्र का सम्पादन किया गया है । एक सूक्त[३] का पाठ करते हुये रोगी के रोगग्रस्त अंग को काम्पील (लकड़ी) के खण्डों से बांधकर तथा उसे चौरास्ते पर लाकर दूर्वा के गुच्छे से उसके शरीर को जल से सींचा जाता था ।[४] क्षौत्रिय रोग पाप देवता निर्ऋति, भगिनी के शाप, गुरू द्रोह और वरुण के पाश से उत्पन्न समझा जाता था । इसे मंत्रोच्चार और द्यावा पृथिवी आदि देवों की सहायता से समाप्त किया जाता था ।[५] इसी प्रकार अन्य अनेक रोगों के उन्मूलन के लिये बहुत से तंत्र मंत्रों का वर्णन मिलता है ।[६]

१- अग्निस्तक्मानप बाधतामित: सोमो ग्रावा वरुण: पूतदक्षा: ।
वेदिर्बर्हि: समिध: शोशुचाना अप द्वेषां स्यमुया भवन्तु।।
५,२२,१

२- कौ० सूत्र २६,१८ 'अग्निस्तक्मानम्' इति लाजान् पाययति । दावे लोहितपात्रेण मूर्ध्नि संपातान् आनयति ।।

३- २,१०

४- कौ०सू० २७,७-८

५- क्षेत्रियात् त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावा पृथिवी उभे स्ताम् ।। २,१०,१

६- ब्लूमफील्ड ने इन सूक्तों की संख्या ६५ के लगभग गिनाई है । द्रष्टव्य सै०बु० आफ द ई०, भाग ४२, विषय सूची ।

(२) आयुष्यानि :- अथर्ववैदिक व्यक्ति जीवन को सर्वथा सुरक्षित और दीर्घायु बनाने के लिये निरन्तर चिन्तनशील रहता था । वह चूडाकर्म, मुन्डन और उपनयन आदि पारिवारिक उत्सवों पर दीर्घायुष्य के लिये प्रार्थनायें करता था । अथर्ववेदके चार सूक्तों में स्वास्थ्य और दीर्घायु की प्रार्थनाएं मिलती हैं ।[१] तीन सूक्तों में मृत्यु और रोग भय से मुक्ति के लिये स्तुतियां हैं ।[२] एक अन्य सूक्त में समृद्धि के लिये शंखमणि बांधने का विधान किया गया है ।[३] दूसरे में दीर्घ जीवन के लिये पर्णमणि धारण करने का उल्लेख है ।[४]

(३) अभिचारिकाणि :- इस समय लोग अनेक भूतों-प्रेतों, पिशाचों तथा कृत्यों इत्यादि में विश्वास रखते थे । उनकी धारणा थी कि ये सब मनुष्यों को भिन्न भिन्न प्रकार के कष्ट,- पीड़न, मारण, चातन, उच्चाटन आदि - दे सकते हैं । इनमें से कुछ ऐसे कष्टों का निवारण भी किया जाता था । इस धारणा के परिणाम स्वरूप इस समय इन भूत प्रेतों से सम्बन्धित विद्या (यातु विद्या) बड़े जोरों पर थी । लोग उनके द्वारा अन्य लोगों को तरह तरह के कष्ट दिलवाने के लिये

१- २,२८, ३,११, ३,३१, ७,५३,

२- ५,३०, ८,१, ८,२,

३- स नो हिरण्यजा शङ्ख आयुष्य प्रतरणो मणि:।४,१०,४

४- अग्ने प्रजातं परि यद्धिरण्यममृतं दध्रे मर्त्येषु ।
य एनद् वेद स इदेनमर्हति जरामृत्युर्भवति यो बिभर्ति ।।
१६,२६,१

अभिचार करते थे । किये गये अभिचार द्वारा बचने के लिये तंत्र मंत्र किये जाते थे । मंत्र अभिहित कुछ मणियाँ और जड़ी बूटियों के प्रयोग से कष्ट दायी अभिचारों से बचते थे ।

(४) स्त्रीकमणि :- अथर्ववेद में स्त्रियों से सम्बन्धित कई कृत्य प्राप्त होते हैं । दो सूक्तों का प्रयोग पति प्राप्ति (पतिवेदनानि) के लिये किया गया है ।[१] कौशिक ने कहा है कि उन दो सूक्तों में से एक का[२] प्रयोग करते समय कुमारी को धान और तिल चबाने के लिये देना चाहिये । इसके बाद कुमारी को हवन करना चाहिये ।[३] पतिवेदन से सम्बन्धित एक दूसरे सूक्त का भी प्रयोग किया गया है ।[४] कौशिक के अनुसार इस प्रयोग में कौओं को प्रात: जागरण के पूर्व अग्नि में घी आहुति और घर के चारों कोनों में बलि प्रदान करनी चाहिये । पुरूष में स्त्री के प्रति प्रेम उत्पन्न करने से सम्बन्धित अभिचार में एक अन्य सूक्त का प्रयोग किया गया है ।[५] यह सूक्त पढ़ते हुए स्त्री को पुरूष के मार्ग में माष (उड़द)[६]

१- ७,९५, २,३६, ६,६०,

२- वही २,३६

३- दृष्टव्य कौ०सू० ३४,१२-१६

४- ६,६०

५- ६,१३३

६- कौ०सू० ३३,३६,१३-१४

बिखेरना चाहिये ।

स्त्री-प्रेम प्राप्त करने के लिये सात सूक्तों का प्रयोग किया गया है ।[1] ब्लूमफील्ड महोदय ने कौशिक सूत्र के अनुसार इनका सुन्दर वर्णन किया है ।[2] चार सूक्तों[3] का पाठ करते हुए वृक्ष की छाल, बाण का टुकड़ा, तगर, आंजन, और कुष्ट आदि को पीस कर स्त्री के अंग में लगाना चाहिये ।[4] इसके फलस्वरूप स्त्री अनुरक्त हुई समझी जाती थी ।

स्त्रियाँ अपनी सौतों (सपत्नियों) के विरुद्ध कुछ कृत्य करती थीं । एक सूक्त में सपत्नीको वश में करने का वर्णन मिलता है ।[5]

बहुत से कृत्य स्त्री के दाम्पत्य जीवन को सुखी बनाने के लिये किये जाते थे । पुत्र प्राप्ति (पुंसवन) के लिये[6], उसे बन्ध्या करने के लिये[7], गर्भ-दृढ़ करने के लिये[8] तथा सुख-प्रसव[9] के लिये विभिन्न तंत्र मंत्र किये जाते थे ।

(५) सांमनस्यानि :- अथर्ववैदिक लोग पारिवारिक वैमनस्य को देवताओं का प्रकोप समझते थे । वे मंत्रों द्वारा

१- १,३४, २,३०, ६,८-६, ६,१०२, ७,२५, ६,१३६

२- सै०बु० आफ द ईस्ट, भाग ४२, पृ० २७४, ३११,५५६, ५१२ एवं ५३६

३- २,३०, ६,८, ६,१०२, यथा मां कामिन्यसो यथा मन नापगा असः ।

४- सूक्त २,३० पर सायण

५- इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ।
यया सपत्नी बाधते यया सविन्दते पतिम् ।।३,१८,१

६- सूक्त ३,२३ एवं ६,११

७- ७,३५

८- ६,१७

६- १,११

परिवार में सुख-शान्ति के लिये देवों की प्रार्थना करते थे। एक सूक्त में पुत्र को माता पिता के अनुकूल होने, पत्नी को पति के अनुकूल प्रिय भाषण करने तथा भाई भाई और बहन बहन में परस्पर प्रेम करने के लिये शुभकामना की गई है।[1] मंत्रणा, समिति, व्रत, एवं चित्त की समानता के लिये एक मंत्र में समान हवि से आहुति करने का वर्णन है।[2] राजा अपने वंशजों के सामनस्य के लिये घृत आहुति करता हुआ प्रदर्शित किया गया है। "वरुण, सोम, अग्नि, बृहस्पति और वसु यहाँ आवें, हे सजातों, तुम लोग समान मन होकर इस उग्र श्री के पास आओ। जो शुष्म (बल) तुम्हारे हृदय में है जो चिन्तन तुम्हारे मन में है, हे सजातों, उन सबको इस घृताहुति में अपने में करता हूँ, तुम लोग सन्तुष्ट होवो"।[3] इसी प्रकार अगले सूक्त में भी वैमनस्य को दूर करने की प्रार्थना है।[4] कौशिक

१- सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।। ३,३०,१
और आगे भी।

२- समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रत सह चित्तमे-
षाम् समानेन वो हविषा।
जुहोमि समानं चेतो अभि संविशध्वम्।। ६,६४,२

३- एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु।
अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेत्तुः संमनसः सजाता।।
६,७३,१

४- ६,७४ सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता।
६,७४,१

ने एक और सूक्त को भी 'साम्मनस्यानि' के लिये प्रयुक्त माना है।[१]

(६) राजकर्माणि :- राज्य से सम्बन्धित कृत्यों को राजकर्माणि के अन्तर्गत किया जाता है। सभा और समिति में प्रभाव शाली प्रवचन करने के लिये कृत्य किये जाते थे। सायण और कौशिक[२] एक सूक्त[३] को सभा में विजय के लिये प्रयुक्त करने का विधान करते हैं। इस कार्य के लिये इन्द्र की प्रार्थना की जाती थी।[४] एक दूसरे सूक्त[५] से विवादग्रस्त विषयों में अपनी विजय के लिये अभिचार का वर्णन प्राप्त होता है। कौशिक[६] कहते हैं कि ऐसी अभिलाषा करने वाले व्यक्ति को अपराजिता पौधे की जड़ को चबाते हुये सभा में पूर्वोत्तर दिशा से प्रवेश करना चाहिये और अपराजिता को मुँह में रख कर ही बोलना चाहिये। उस व्यक्ति को अपरा- की मणि और सात पत्तों की माला भी धारण करनी चाहिये।[७] इसमें भी इन्द्रदेव की प्रार्थना की जाती थी।

राजा के निर्वाचन[८], अभिषेक[९], संप्रभुता[१०] सफलता,

१- कौ० सू० १२,५, सूक्त ७,५२

२- कौ० सू० ३८,२७-२८

३- विद्य ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचस: ।। ७,१२,२

४- अस्या: सर्वस्या: संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु। ७,१२,३

५- २,२७

६- कौ० सू० ३८,१८-२१

७- सूक्त ३,४

८- ३,४

९- ४,८

१०- ४,२२

पुनस्थापना[1] आदि के लिये भी कृत्य संपादित होते थे । राजा अपनी भौतिक और आध्यात्मिक सफलता के लिये प्रार्थना करता था ।[2]

युद्ध सम्बन्धी कृत्यों में युद्ध में विजय[3] सुरक्षा[4] आक्रमण[4] मूर्च्छा[6], आदि के लिये अभिचार प्रमुख हैं । इन युद्ध कृत्यों में अभिचार करने वाला पुरोहित होता था ।[7] वह विभिन्न प्रयोग करता था ।[8] युद्ध के अवसर पर नगाड़े (दुन्दुभी) भी मंत्रसिद्ध किये जाते थे ।[9] एक सूक्त में अर्बुदी और न्यर्बुदी युद्ध देवियों की युद्ध सहायता के लिये प्रार्थना की गई है ।[10] अन्य एक सूक्त में त्रिषन्धी नामक अस्त्र की प्रार्थना है ।[11]

(७) <u>प्रायश्चित्तानि</u> :- ज्ञात और अज्ञात कृत्यों और विचारों के अपराधों हेतु, ऋण लेकर उसे न देने, जुआ खेलने में बाजी न देसकने, अवैधानिक विवाह या छोटे भाई का बड़े भाई से पहले विवाह करने आदि के लिये प्रायश्चित्त कर्म किये जाते थे । इसके अतिरिक्त अपशकुनों, भयंकर गृह यंत्रणा एवं दुर्घटना के निवारण के लिये भी प्रायश्चित्त

१- ३,३

२- १,६

३- १,२०

४- १,२१, १,२६

५- ६,६८

६- ३,१,२

७- ३,१६

८- दृष्टव्य शिन्डे - रैलिजन एण्ड फिलासफी आफ द अथर्ववेद, पृ० ८२-१००

६- ५,२०,२१

१०- ११,६

११- ११,१०

परक तंत्रमंत्र गीत प्राप्त होते हैं ।[१] खूंटे पर वशा गाय की उपस्थिति सभी पशुओं के नाश का कारण समझा जाता था ।[२] कपोत और उल्लू ये दो पक्षी भी अशुभ सूचक समझे जाते थे और उनके प्रभाव को हटाने के लिये ~~पुनश्चल-किये-जने~~ प्रायश्चित किये जाते थे । ये उल्लू जो कुछ बोलता है निष्फल हो तथा जो कपोत है वह अग्नि में जाये ।[३] वे निऋति देव से प्रार्थना करते थे कि ये दो अशुभ पक्षी उनके घर न आवें तथा पुत्रादि को क्षति न पहुंचावे ।[४] कपोत पक्षी उनके घर न आवे इसके लिये वे अभिचार का विधान करते थे ।[५] इसी प्रकार कपोत पक्षी के लिये दो सूक्त ही प्रयुक्त है ।[६] अन्यत्र काले पक्षी के गिरने से और उसके देखने से ~~अमनन~~ उत्पन्न पाप (अंहस) की शान्ति का उपचार किया गया है । इस पक्षी के गिरने से घर की गार्हपत्य अग्नि बुझ जाती है ।[७]

१- द्रष्टव्य ब्लूमफील्ड अथर्ववेद एण्ड गोपथ ब्रा०, पृ०८३-८५

२- यदस्या: कस्मै चिद् भोगाय बालान् कश्चित् प्रकृन्तति ।
तत: किशोरा म्रियन्ते वत्सांश्च घातुको वृक: ।।
१२,४,७

३- यदुलूको वदति मोघमेतत् ।
यद् वा कपोत: पदमग्नौ कृणोति ।। ६,२६,१

४- अवैरहत्यायेदमा पपत्यात् सुवीरताया इदमा...।।
६,२६,३

५- तस्मा अर्चाम कृणवाम । ६,२७,१

६- सूक्त ६,२७, ६,२८

७- इदं यत् कृष्ण: शकुनिरभिनिष्पतन्नपपित्वत् ।
आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पात्वंहस: ।।
इदं यत् कृष्ण: शकुनिरवामृक्षान्निऋते ते मुखेन ।
अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्य: प्रमुञ्चतु ।।६,६४,१-२

(८) पौष्टिकानि :- इस प्रकार के कृत्य ये हैं जो शाला (घर) निर्माण के लिये, कृषि के प्रारम्भ के बीज वपन, फसल काटने और कृषि संरक्षा के लिये किये जाते थे। ये सभी कार्य समृद्धशाली होने के लिये किये जाते थे।

२. हवि संबंधी कृत्य :- कुछ ऐसे कृत्यों का वर्णन भी मिलता है जो किसी विशेष हवि से प्रचलित थे। ये काम्य इष्टियों के समान हैं। ये सरल और स्वतंत्र प्रणाली वाले हैं।

(क) संस्राव्य हवि :- संस्राव्य हवि की आहुति कर लोग धन, जन और पशु वृद्धि की कामना करते थे।[१]

(ख) यशो हवि :- राजशक्ति का इच्छुक व्यक्ति यह हवि इन्द्र को प्रदान करता था।[२]

(ग) नैरहस्त हवि :- शत्रु का हाथ काट लेने के उद्देश्य से यह हवि देवों को दी जाती थी।[३]

(घ) सप्तर्षि हवि :- यह हवि भय से मुक्ति के लिये सप्तर्षियों को दी जाती थी जिससे सभी देव प्रसन्न होकर रक्षा करें।[४]

१- संसं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ।। २,२६,३

२- यशो हविर्वर्धतामिन्द्र। हविष्मन्तं मा वर्धय ज्येष्ठतातये।
अच्छा न इन्द्रं यशसं नमसाना विधेय ।। ६,३९,१-२

३- निर्हस्तौम्यो निर्हस्तं ये देवा शत्रुमस्यथ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषायहम् ।। ६,६५,२

४- अभयं नो स्तुर्वन्तरिक्षं सप्त ऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु ।। ६,४०,१

(ङ) समान हवि :- वैमनस्य को हटाने के लिये तथा हृदय, मन्त्रणा, समिति आदि के समान होने के लिये समान हवि की आहुति की जाती थी ।[1]

(च) नैर्बाध हवि :- अपने को बाधा रहित करने के लिये शत्रुओं को सब स्थानों से भगाया जाता था । इसके लिये अग्नि में नैर्बाध हवि छोड़ी जाती थी ।[2]

(छ) भूत हवि :- यह हवि त्वष्टा (देव) को देने से नवदम्पति के प्रेम में वृद्धि समझी जाती थी ।[3]

(ज) ध्रुव हवि :- राज सत्ता को सुदृढ़ करने के लिये यह हवि इन्द्र को दी जाती थी ।[4]

३. सव यज्ञ

गृह्य कृत्य भौतिक सुख शान्ति के लिये किये जाते थे । परन्तु स्वर्ग प्राप्ति के लिये सव यज्ञ किये जाते थे । इन में से अधिकांश में ब्राह्मणों को दान देना मुख्य था । इन में वेद त्रयी के बड़े यज्ञों की जटिलता और अपव्ययता दिखाई नहीं पड़ती । सम्भवत: इनका विधान सामान्य लोगों के स्वर्ग प्राप्ति के लिये किया गया था । ये सब यज्ञ बाहय हैं जिनमें मुख्य सूत्र रूप में नीचे दिये जाएंगे ।

१- समानो मन्त्र: समिति: समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम् ।
समानेन वो हविषा । जुहोमि समानं चेतो अभि संविशध्वम् ।। ६,६४,२

२- नैर्बाध्येन हविषेन्द्र एवं पराशरीत । ६,७५,१

३- येन भूतेन हविषायमा प्यायतां पुन: ।
जायां यास यामस्मा आवाहन्तु स्तांम रसेनाभिवर्धताम् ।। ६,७८,१

४- इन्द्र इवेह ध्रुवास्तिष्ठ राष्ट्रमुधारय ।
इन्द्रमेतदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा ।। ६,८७,३ और ६,८८ एवं ७,९५ भी

(१) ब्राह्मौदन सव :- इसका प्रकरण एक विस्तृत सूक्त में प्राप्त होता है। पके चावल (ओदन) का तीसरा भाग ब्राह्मणों को खिलाया जाता था और शेष दो भाग पितरों को अर्पित किये जाते थे[1] ओदन को देवत्व का रूप दिया गया है। इससे व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में पितरों के साथ सुखी समझा जाता था। यह साधारण कृत्य है परन्तु इससे सर्वोच्च लक्ष्य स्वर्ग प्राप्त किया जाता था।[2] ब्राह्मणों को इसमें गाय और सुवर्ण दान दिया जाता था।[3] पुत्र की इच्छा करने वाले भी ब्रह्मौदन को पकाते थे।[4]

(२) स्वर्गौदन :- इसका भी सम्पूर्ण सूक्त में वर्णन हुआ है। चावल के दानों को स्वच्छ करना सोम रस निकालने के समान कहा गया है। अतः यह सोम यज्ञ का लाक्षणिक रूप है। जल लाना चावल को स्वच्छ करना, पकाना, मधु और घी से संपृक्त करना और स्वर्ण दक्षिणा रखना इत्यादि कार्य सोम-यज्ञ के समान है। अतः ब्राह्मणों को ओदन[5] का भोज और उसके बाद कुछ दक्षिणा देकर स्वर्ग प्राप्ति की कामना की जाती थी।

१- ११,१ त्रेधा भागो निहितो यः पुरा, ११,१,५

२- द्रष्टव्य ब्लूमफील्ड सै०बु० आफ द ई०, भाग ४२,पृ०६१०

३- इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा
इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ।।
११,१,२८

४- ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा। ११,१,१

५- सम्पूर्ण सूक्त में ये सब विस्तार के साथ वर्णित हैं।
विस्तार भय से उन्हें मैंने संक्षिप्त कर दिया है।

(३) चतुः आशापाल सव :- इस में प्राणियों के अध्यक्ष चारों दिग्पालों को घृत और अश्राम हवि प्रदान करते थे। इससे व्यक्ति की सब प्रकार से रक्षा होती थी। यह काम्य यज्ञ है।[१]

(४) कार्की सव :- गाय के श्वेत बछड़े को कार्की कहा जाता था। इस यज्ञ में कार्की ब्राह्मण को दिया जाता था।[२] एक बैल या ऋषभ की प्रशंसा सम्पूर्ण लोकों की रक्षा करने वाले सूर्य के समान की गई है। वाजिन् (सूर्य) को अन्तरिक्ष से आवाहित किया जाता था और कहा जाता कि वह कार्की की रक्षा करे तथा सोम रस का पान करे।[३] यह घास है, यह खूँटा है, यहाँ हम उस बछड़े को बांधते हैं। नाम के अनुसार हम तुम्हें हवन देते हैं।[४]

(५) अवि सव :- अवि सव में श्वेत पैर वाला बकरा दिया जाता था। पके चावल के पांच पिण्ड बनाकर उसके चारों खुरों और नाभि में रखा जाता था। इस बकरे को स्वधा के रूप में देने वाला व्यक्ति यमलोक के कर से मुक्त समझा जाता था।[५] और वह स्वर्गलोक को जाता था जहाँ बलवानों द्वारा निर्बलों से शुल्क नहीं लिया जाता था। इस बकरे के साथ जो पांच पिण्ड (अपूप) देता था वह सूर्य और

१- आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः।
इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा वयम्।
अश्रामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लोणास्त्वा घृतेन जुहोमि।
स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगत
पुरुषेभ्यः। १,३१,१-४

२- कौ० सू० ६६,१३

३- या साम्रृषभो दुरतो वाजिनीवान्त्स्वधः सर्वान् लोकान्
पर्यैति रक्षन्। स नं ऐतु होममिमं जुषाणोऽन्तरिक्षेण
सहवाजिनीवान्॥ ४,३८,५

४- अयं घासो अयं व्रज इह वत्सां नि बध्नामि। ४,३८,७

५- ३,२९,१

चन्द्र से रक्षित होता था ।[१]

(६) अजौदन सव :- इस कृत्य में भी पका चावल और बकरा प्रदान करने वाला व्यक्ति स्वर्ग में देवों के साथ निवास करता था ।[२]

(७) पंचौदन सव :- इस सव में पांच ओदन के चरूओं के साथ बकरे की बलि दी जाती थी । एक सूक्त में अजपंचौदन के विराट् स्वरूप का वर्णन किया गया है ।[३] इस सव के सम्पादकों को नाना विधि ऐश्वर्यों की प्राप्ति बताई गई है ।यदि इस पंचौदन-दक्षिणा को ब्राह्मणों के लिये कोई पुनर्विवाहिता स्त्री प्रदान करती थी तो उसका दूसरा पति भी समान लोक का अधिकारी होता था ।[४]

(८) ब्रह्मास्यौदन :- उनका विश्वास था कि इस सव का ओदन ब्रह्म के मुख से निकला है । उसमें पके चावल, घृत, मधु, सुरोदक, चार पानी से भरे घड़ों की धाराप्रदान की जाती थी ।[५]यह ओदन ब्राह्मणों को स्वर्ग प्राप्ति के लिये प्रदान किया जाता था ।[६]

१- पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोप जीवति सूर्यं मासयोरक्षितम् ।। ३,२६,५

२- दिवस्पृष्ठं स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ।। ४,१४,२ और समस्त सूक्त भी इसी के लिये ।

३- सूक्त ६,५

४- या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेपरा ।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषत: । ६,५,२७
समान लोको भवति पुनर्भुवापर: पति: ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ।।६,५,२८

५- ४,३४,६ घृतह्रदा मधुकूला:...चतुर: कुम्भांश्चतुर्धा.. दध्ना।

६- इममोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम् ।
४,३८,८

(९) अतिमृत्यु सव :- मृत्यु से बचने के लिये यह कृत्य किया जाता था। इसमें पका चावल ब्राह्मणों को दिया जाता था।[१]

(१०) अनडुह् सव :- इस सव में ब्राह्मणों को बैल प्रदान किया जाता था जो सम्पूर्ण दुखों का नाश करने वाला था।[२]

(११) पृश्नि और पृश्निगौ सव :- इस पृश्निसव में चितकबरी गाय की बलि दी जाती थी।[३] पृश्निगौ में भी गाय ब्राह्मणों को दी जाती थी।[४]

(१२) ऋषभ सव :- एक सूक्त[५] में ऋषभ सव का वर्णन है। जो व्यक्ति ब्राह्मणों को ऋषभ (बैल) देता है उसका मन श्रेष्ठ हो जाता था तथा उसे अवध्या गाय की सम्पत्ति प्राप्त होती थी।[६]

(१३) वशासव :- एक सम्पूर्ण सूक्त में वशा गाय की बलि का वर्णन है। उसे ब्राह्मणों को देने का विधान है।[७]

१- देखिये पूरा सूक्त ४,३५, तैनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ।।

२- सूक्त ४,११, सायण मंत्र ४,११,३ पर द्रष्टव्य

३- सूक्त ६,३१

४- सूक्त ७,२२ द्रष्टव्य कौ० (६६,१४)

५- सूक्त ९,४, ब्राह्मणेभ्य: ऋषभं दत्त्वा वरीय: कृणुते मन: । पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेव पश्यते ।।
९,४,१९

६- द्रष्टव्य सूक्त ९,३

७- सूक्त १२,४

(१४) शाला सव :- इस सव में घास फूस का घर बना कर ब्राह्मणों को दिया जाता था। सम्पूर्ण वर्णन में इसकृत्य को यज्ञ का रूप दिया गया है।[१]

(१५) बृहस्पति सव :- इस सव में पके चावल की आहुति दी जाती थी जिससे द्वेष करने वालों का वध हो जाता था।[२]

(१६) उर्वरासव :- इस कृत्य में प्रशस्त एवं जुता हुआ खेत ब्राह्मण को दिया जाता था।[३]

ब देवमंडल

देवगण आरम्भ में जरा युक्त मनुष्य ही थे।[४] परन्तु वे अग्नि[५] और रोहित[६] से उन्होंने बाद में अमरत्व प्राप्त किया। देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिये ब्रह्मचर्य तप का अनुष्ठान किया था।[६] देवों की संख्या एक स्थान में तैंतीस बताई गई है।[७] तीसरे स्वर्ग (नाक) में अश्वत्थ

१- द्रष्टव्य सूक्त ६,३

२- द्रष्टव्य सूक्त ११,३

३- सूक्त ६,३० और कौ० (६६,१७)

४- विविवि देवा जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या। ३,३१,१
येन देवा: स्वरारुरुहित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्। ४,११,६

५- येन देवा अमृतमन्वविन्दन्। ४,२३,६
तेन देवा अमृतमन्वविन्दन्। १३,१,७

६- ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। ११,५,१६

७- यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे सर्वे समाहिता: ।१०,७,१३

देवों का निवास स्थान कहा गया है ।[१]

देवों की स्थिति के अनुसार उन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया गया है ।[२] इसके अतिरिक्त देवों की और भी दो कोटि मानी जाती है । ये सब निम्नलिखित हैं :-

(१) धुलोक स्थानीय देव

(२) अन्तरिक्ष स्थानीय देव

(३) पृथिवी स्थानीय

(४) भावात्मक देव

(५) निम्नकोटि के देव

(१) धुलोक स्थानीय देव :- इस वर्ग में निम्नलिखित देव मुख्य हैं

मित्र :- प्रात: काल उगते हुये रोहित (लाल सूर्य) को मित्र कहा गया है ।[३] ये रथ पर घूमने वाले हैं तथा असत्य वादियों का विनाश करते हैं ।[४] मित्र और वरुण को वृष्टि का अधिपति देव कहा गया है ।[५] मित्र की प्रार्थना एक स्थान पर पाप मुक्ति के लिये की गई है ।[६] सर्पों को

१- अश्वत्थो देव सदनस्तृतीयस्यामितो दिवि ।। ५,४,३

२- ये देवा दिविष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्षा । १,३०,३
ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षासदश्च ये ये चेमे भूम्यामधि । १०,६,१२

३- स मित्रो भवति प्रातर् घन । १३,३,१३

४- ययो रथ सत्यवर्त्मर्जुरश्मिमिथु या चरन्तमभियाति दूषयन स्तौमि मित्रावरुणौ । ४,२६,७

५- मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती । ५,२४,५

६- मित्र एनं मित्रियात् पात्वंहस: । २,२८,१

वश में करने के एक अभिचार में मित्र का उल्लेख इन्द्र और वरुण के साथ हुआ है ।[१] अन्य मंत्र के अनुसार यह अंजन मणि के प्रभाव में अभिवृद्धि करने वाला है ।[२]

सविता :- सूर्य के एक दूसरे रूप को सविता कहा जाता है । यह भाग्य-देव है ।[३] इसके उदय होने पर सभी मनुष्य अपने काम में तल्लीन हो जाते हैं ।[४]

सूर्य :- सूर्य नेत्र का अधिपति है ।[५] वह प्रकृति की महान् शक्ति है तथा जीवन के सभी आवश्यकताओं में सहायक है । उसके उगते ही पाण्डु (हरिमा) और हृद् रोग ठीक होजाते हैं ।[६]

रोहित :- रोहित रात्रि का श्वेत पुत्र है और सौ घोड़े वाले रथ पर बैठ कर आकाश में एक छोर से दूसरे छोर तक विचरण करने वाला सूर्य है ।[७] रोहित को संसार का सृष्टा कहा गया है । उसमें परमेष्ठी, विराट् प्रजापति और अग्नि, वैश्वानर स्थित हैं ।[८]

१- इन्द्रो मेऽग्निरन्धयन्मित्रश्च वरुणश्च । १०,४,१६
२- मित्रश्च त्वा वरुणश्चानुप्रेयतुरा जनन । १६,४४,१०
३- सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः । २,३६,८
४- देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मनुष्याः । ६,२३,३
५- सूर्यः चक्षुषामधिपतिः । ५,२४,६
६- अनुसूर्यमुदयतां हृद्योतो हरिमा च ते । १,२२,१
७- स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय... शतमश्वा । १३,२,६
८- यस्मिन् विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानरः ।१३,३,५

पूषान् :- पूषान् समृद्धि के देवता हैं । यह कृषि की रक्षा करने वाला[1] तथा नष्ट वस्तुओं को प्राप्त कराने वाला है ।[2] यह प्रसूती स्त्री के पीड़ा को भी कम करता है ।[3]

वरुण:- वरुण जल का स्वामी है ।[4] उसके गुप्तचर हजारों दृष्टियों से पृथिवी पर किये गये पापों का निरीक्षण करते हैं ।[5] यह रोगों से मुक्ति दिलाता है । परन्तु पापियों को जलोदर[6] और तक्मन्[7] (ज्वर) रोगों द्वारा पीड़ित करते हैं । कदाचित् वरुणानी उनकी पत्नी है[8]

विष्णु :- विष्णु का प्रयोग तंत्र मंत्रों में किया गया है । गर्भाधान कृत्य में विष्णु का गर्भ धारण कराने के लिये आवाहन किया गया है ।[9] प्रातः काल का किया हुआ अभिचार विष्णु और वरुण के पास पहुँचता है ।[10] कदाचित् सरस्वती उनकी पत्नी है ।[11]

आश्विन :- ये युगल देव देवों के चिकित्सक है तथा बलवीर्य प्राप्त कराते हैं ।[12] ये रोगों से मुक्ति दिलाते हैं[13]

-- ५ ----

१- इन्द्रः सीता निगृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु । ३,१७,४

२- पुनर्वो नष्टमाजतु सं नष्टेन गमेमहि । ७,६,४

३- वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु ।
   सिस्रतां नार्यृत प्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ।।
   १,११,१

४- उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः । ४,१६,३

५- दिव स्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् । ४,१६,४

६- उन्मु चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषादूषणीः ।८,७,१०

७- यदि वा राज्ञो वरुणस्य पुत्रः । स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् । १,२५,३

८- वरुणानी । ६,४६,३

९- विष्णुर्योनिं कल्पयतु । ५,२५,५

१०- ७,२५,२

११- प्रति तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति ।१४,२,१५

१२- स्वा मे अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजश्च ध्रियताम ।
   ६,१,१७

१३- २,२९, ७,५३..

(२)अन्तरिक्ष स्थानीय देव :- इन देवों में इन्द्र पर्जन्य, रुद्र, और मारुत प्रमुख हैं।

इन्द्र :- यह शक्तिशाली देव एकाष्टका[1] पुत्र कहा गया है।[2] वह वीरता के काम के लिये प्रसिद्ध है। वह वज्र से असुरों का नाश करने वाला है। उसकी कृपा से नदियों का जल स्वेच्छा से समुद्र तक बहता है।[3] वह अपने जाल से अपने शत्रुओं को वश में करता है।[4] अग्नि की सहायता से उसने पणियों को जीता।[5] वह व्यापार में सफलता प्रदान करने में[6] तथा रोगों से मुक्ति पाने में सहायता करता है।[7]

पर्जन्य :- यह वृष्टि करने वाला देवता है। जब यह वर्षा करता है तो भूमि की महत्ता बढ़ जाती है। और नाना भांति की औषधियां उस पर उत्पन्न होती हैं।[8] वर्षा प्रजा का प्राण है और स्वर्ग का अमृत है।[9]

रुद्र :- ये हजारों नेत्र वाले देव हैं।[10] इनके सिर के बाल काले हैं।[11] ये धनुष बाण से सुसज्जित हैं। इनकी

१- हिल्ब्रान्ट (वेदिशे माइथोलाजी, २,२५) ने एकाष्टका को उषस् से समीकृत किया है।

२- इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापते:। ३,१०,१३

३- सूक्त २,५

४- बृहद्धि जालं बृहत: शक्रस्य वाजिनीवत:।
तेन शत्रूनभि सर्वान् न्युब्ज यथा न मुच्यातै। ८,८,६

५- येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय। ४,२३,५

६- इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न एतु पुरएता नो अस्तु।
३,१५,१

७- इन्द्रस्य नाम गृह्णन्तो ऋषयो जङ्गिडं ददु:।
इन्द्रस्त वीरुधां पत उग्र ओज्मानमा दधत्।। ४,७६,८

८- वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तामोषधयो विश्वरूपा:। ४,१५,२

९- ४,१५,१०

१०- भव और शर्व सूक्त ४,२८ में सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेहं ४,२८,३ और ११,२,१७

११- श्यावश्वं कृष्णमसितं मृणन्तं भीमं रथं केशिन: पादयन्तम्।
११,२,१८

एक उपाधि पशुपति है । क्योंकि पांचों प्रकार के पशु उन्हीं के हैं ।[१] वह शत्रुओं को ज्वर, कफ और विष देने वाले हैं ।[२] उसके विष बुझे बाण शूल को उत्पन्न करते हैं ।[२] परन्तु रुद्र का दयालु रूप भी प्राप्त होता है । वह जलास नाम रोग की औषधि देने वाले हैं और जालाष-भेषज उनकी प्रमुख उपाधि है ।[३]

मारुतों :- ये पृश्नि के पुत्र हैं तथा इन्द्र के साथ संयुक्त होकर शत्रुओं का नाश करते हैं ।[४] ये पदच्युत राजा की पुनर्स्थापना में सहायक हुये हैं ।[५] रुद्र इनका पिता है ।[६] युद्ध और शासन से इनका सम्बन्ध होने के कारण ऐसे प्रसंगों में ही इनका नाम आता है ।[७] मरुद् गण पर्जन्यघोषी कहे गये हैं ।[८]

१- पशुपते नमस्ते । तवेमे प च पशवो विभक्ता गावो अश्वा: पुरुषा अजावय: । ११,२,६

२- मा नो रुद्र तक्मना मा विषेण । ११,२,२६ एवं ६,९०

३- १६,१०,६

४- यूयमुग्रा मरुत: पृश्नि मातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् । ५,२१,११

५- य जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम । ३,३,१

६- मरुतां पिता पशूनामधिपति: । ५,२४,१२

७- ३,३, ८,१, ३,४, ३,१,

८- गणास्त्वोप गायन्तु मारुता: पर्जन्यघोषिण: पृथक् । ४,१५,४

(३) पृथिवी स्थानीय देव :- अथर्ववैदिक काल का व्यक्ति उक्त देवों की अपेक्षा पृथिवी पर स्थित कुछ शक्तियों का भी देवता के रूप में पूजन करता था ।

अग्नि :- इस काल के धर्म में अग्नि का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था । पिशाचों और राक्षसों को भगाने के लिये अग्नि की तरह तरह से प्रार्थना की जाती थी और उसमें आहुति दी जाती थी ।[१] युद्ध-स्थल में शत्रुओं को परास्त करने के लिये तथा उनके अङ्गों को काट डालने के लिये अग्नि की प्रार्थना की गई है ।[२] व्यापार में सफलता तथा वाणिक के दोषों की युक्ति के लिये भी अग्नि में हवन दिया जाता था ।[३] द्यूत क्रीड़ा में विजय के लिये अग्नि में आहुति दी जाती थी ।[४] ऋण लेने के प्रायश्चित कर्म में अग्नि को ही साक्षी मान कर ऋण-मुक्ति की गई है ।[५] पति प्राप्ति एवं प्रणय में सफलता के अभिचार में भी अग्नि की सहायता ली गई है ।[६]

१- ताष्टाधीरग्ने समिधः प्रति गृह्णाह्यार्चिषा ।
जहातु कृव्यादूपं जो अस्य मांस जिहीर्षति ।। ५,२६,१५

२- अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स सेना मोहयतु परेषां निर्हस्तं कृणवज्जातवेदाः ।।
३,१,१

३- इमामग्ने शरणिं मीमृषो...शुनं नो अस्तु प्रपणं विक्रयश्च । ३,१५,४

४- ७,१०६,२

५- इदं तदग्ने अनृणं भवामि त्वं पाशान् विचृतं वेत्थ सर्वान् । ६,११७,१

६- ३,३६ एवं ६,१३१

बृहस्पति :- यह देवों के पुरोहित तथा ब्राह्मणों के प्रतिनिधि हैं ।[1] यज्ञ से देवों को उद्बुद्ध कर लोक में आयु प्रजा पशु आदि से यजमान की वृद्धि करते हैं ।[2]

पृथिवी :- अथर्ववेद में पृथिवी का गुणगान उसकी उपयोगिता की दृष्टि से विस्तृत रूप में किया गया है । वह सब समृद्धि को प्रदान करने वाली तथा माता के रूप में वर्णित की गई है ।[3]

(४) भावात्मक देव :- अथर्ववेद में कुछ नये वैदिक देवों का वर्णन मिलता है । जिनमें स्कम्भ, काल, काम, और रोहित प्रमुख हैं ।

स्कम्भ :- अथर्ववेद के दसवें काण्ड के सातवें और आठवें सूक्त का विषय स्कम्भ वर्णन है । यह उत्तम स्थान में स्थित देव है इससे अलग कोई नहीं है, समस्त प्राणिजात इसी में न्यस्त हैं । इसको जानने वाले ब्रह्मविद् कहे गये हैं ।[4]

१- यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं । १०,६,६

२- १६,६३,१

३- सूक्त १२,१. द्रष्टव्य डा० राजबली पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६३ (३-४), पृ० २३३-४१

४- यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति ।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन ।। १०,८,१६
ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनु संविदुः ।। १० ७,१७

यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय ।
यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ।। १०,७,३१

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद वै ब्रह्मविदो विदुः ।।
१०,८,४३

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः
तमेव विद्वान न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ।। १०,८,४४

काल :- यह समय सूचक देव है । दो सूक्तों में इसका विस्तार से वर्णन है ।[१] इसको प्रजापति का पिता कहा गया है ।[२] वह ब्रह्म होकर परमेष्ठिन् को धारण करता है ।[३] इस प्रकार काल विश्व के कर्ता एवं हर्ता के रूप में चित्रित है ।

काम :- काम को महान् देव के रूप में स्वीकृत किया गया है । एक मंत्र में उसे प्रथम उत्पन्न और सृष्टि करने की इच्छा कहा गया है ।[४] उसकी कल्पना हाथ में बाण युक्त धनुष लिये की गई है जिसके बाण के प्रहार से प्रेमिका लता की भाँति पति से लिपट जाती है ।[५]

अदिति :- अदिति वीर पुत्रों की माता है ।[६] उसके पुत्रों की संख्या एक स्थान पर आठ बताई गई है ।[७] अदिति के भाई भी है ।[८] इसके अतिरिक्त अन्यत्र अदिति के विराट् स्वरूप का वर्णन है । उसका भूलोक और अन्तरिक्ष लोक से समीकरण किया गया है इसी के अन्तर्गत सभी देव और पंच मानव है ।[९] यह व्रतधारियों की माता है तथा

१- सूक्त १६,५३-५४

२- १६,५३,८

३- १६,५३,६,६

४- १६,५२,४

५- ६,८,१-३

६- हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां । ३,८,२
गृह्णातु त्वामदिति शूरपुत्रा । ११,१,११

७- अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति ।
८,६,२१

८- पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो । ६,४,१

९- अतिदिधौ....विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदिति ।
७,६,१

ऋत की पत्नी है, यह लोगों की रक्षा करती है ।[१]

दिति :- अदिति के साथ ही एक सूक्त में दिति और उसके पुत्रों का प्रसंग प्राप्त होता है । उसके पुत्रों का निवास गहरे समुद्र में बताया गया है ।[२]

सरस्वती :- सरस्वती को वाणी से समीकृत किया गया है ।[३] एक दूसरे स्थान पर सरस्वती से ओतप्रोत होने की कामना की गई है ।[४] इस प्रकार अवगत होता है कि सरस्वती वाणी की देवी मानी जाती थी । एक मंत्र में तीन सरस्वतियों का उल्लेख है ।[५] सायण ने भी सरस्वती के तीन रूपों की व्याख्या इडा, सरस्वती और भारती के रूप में की है ।[६] सरस्वती धनधान्य की वृद्धि करने वाली हैं ।[७] अन्य स्थान में वह शेपहर्षिणी औषधि प्राप्त कराने में सहायता करती हैं ।[८]

त्वष्टा :- त्वष्टा देव प्राणियों के शरीर की रचना करते हैं ।[९] त्वष्टा ही पति और पत्नि की उत्पत्ति

१- महीमूषु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे । ७,६,२

२- दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्मणाम् तेषां हि धाम गभिषक्समुद्रियं नैनान् नमसा परो अस्ति कश्चन । ७,७,१

३- यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्या मनोयुजा । श्रद्धा तमद्य विन्दतु । ५,७,५

४- ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती ।६,९४,३

५- तिस्रः सरस्वती । ६,१००,१

६- सरस्वत्यः त्रीरूपाः यथा इडा सरस्वती भारती । उद्धृत अथर्ववैदिक सिविलाइजेशन, करमवेलकर, पृ०१२२

७- आ मे धनं सरस्वती : पयस्फाति च धान्यम् । १९,३१,१०

८- अद्य देवि सरस्वति । ४,४,६

९- त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम । ९,४,६
त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदा स्मिन् तान् गोष्ठे सविता नि यच्छतु । २,२६,१

करते हैं और उन्हें दीर्घायु प्रदान करते हैं ।[१] ये घोड़ों को तीव्र गति प्रदान करने वाले भी हैं ।[२]

प्रजापति :- प्रजापति इस समय सम्पूर्ण प्राणियों का स्वामी कहा गया है ।[३] वह प्राणियों की सृष्टि करता है और सभी लोकों को धारण करता है ।[४]

व्रात्य :- अथर्ववेद के १५वें काण्ड में व्रात्य का वर्णन है । इसका तुलना प्रजापति से की गई है ।[५] समस्त काण्ड में उसके अति मानव रूप का वर्णन है ।

अनड्वान् :- एक सूक्त में अनड्वान् (बैल) को देवत्व प्रदान किया गया है तथा उसे सब लोकों का अधिष्ठाता कहा गया है ।[६]

(५) निम्नकोटि के देव :- अथर्ववेद में कुछ ऐसे देवों का वर्णन मिलता है जिनका स्थान बहुत महत्व पूर्ण नहीं है । फिर भी तत्कालीन कृत्यों और अभिचारों में इनका ~~महत्वपूर्ण स्थान~~ उपयोग होता था ।

गन्धर्व :- दिव्य गन्धर्व संसार का अकेला स्वामी कहा गया है ।[७] गन्धर्वों का गंध से सम्बन्ध बताया गया

१- त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वां पतिम् ।
त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायु: कृणोतु वाम् ।। ६,७८,३

२- आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ।। ६,९२,१

३- हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीमुत द्यां । ४,२,७

४- यत् परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापति: ससृजे विश्वरूपम् । १०,७,८
प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वां अधारयत् । १०,७,७

५- स प्रजापति: सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत् ।१५,१,४-५

६- अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान् दाधारोर्वन्तरिक्षम् ४,११,१

७- दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्य: । २,२,१

अथवा ये गन्ध के देवता थे ।[१] इनकी संख्या तैंतीस, तीन सौ या छः हजार है ।[२] इन्हें हवि प्रदान कर इनकी पूजा की जाती थी ।[३] सोम इनका प्रिय पेय है ।[४] गन्धर्वों का दयालु रूप तो प्राप्त ही होता है परन्तु अभिचारकों एवं यातुधानों के द्वारा प्रेरित होकर कभी कभी ये लोगों को पीड़ित भी करते हैं । परन्तु अजशृंगी औषधि उनके प्रकोप का निवारण करती थी ।[५] इस प्रसंग में उन्हें राक्षसों की कोटि में रखा गया है ।[६] शतवय की बनी मणि भी उनके प्रकोप को शान्त करती थी ।[७]

अप्सरायें :- इसी स्वभाव की इनकी पत्नियां (अप्सरायें) भी हैं । ये द्यूतक्रीड़ा की निर्णायिका एवं संरक्षिका देवियां है । द्यूत में विजय लाभ के लिये इन्हें बलि दी जाती थी ।[८]

१- दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्य: २,२,१

२- यस्ते गन्ध: पृथिवि संबभूव ... यं गन्धर्वाप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु । १२,१,२३ इसके अतिरिक्त ८,१०,२७

३- गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयास्त्रिंशत् त्रिशता: षट्सहस्रा: सर्वान् । ११,५,२

४- त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नु रक्षांस्योषधे । ४,३७,१

५- वही ४,३७,१

६- व्हिट्ने मंत्र ४,३७,१० में आये पिशाच शब्द को गन्धर्वों की उपाधि मानते है । अथर्ववेद, पृ० २१३

७- शतमहं दुर्णाम्नीनां गन्धर्वाप्सरसां शतम् । १९,३६,६

८- या अक्षेषु प्रमोदन्ते शुचं क्रोधं च बिभ्रती । आनन्दिनीं प्रमोदिनीमप्सरां तामिह हुवे ।। ४,३८,४

सर्प :- अथर्ववेद में इन्द्र वरुण के समान सर्पों को भी देव माना गया है । इनके अलग लोक की कल्पना है । जिनका राजा तक्षक है ।[१] इन्हें चारों दिशाओं का रक्षक मान कर बलि दी जाती थी ।[२]

वृक्ष :- अथर्वकाल में वृक्षों की पूजा का भी प्रचलन था । इन वृक्षों में अश्वत्थ[३], शमी[४] और वरणावती[५] मुख्य हैं ।

नदी :- आर्यों की पुण्यतम नदी सरस्वती थी । उसे वे पितरों की नदी समझते थे और उसके किनारे स्वधा (पिण्डा) देते थे ।[६] इसे देवों का मुंह कहा गया है ।

गृह :- गृह की पूजा भी होती थी । गृह का देवता वास्तोष्पति है ।[७]

कृषि:- खेतों का देवता क्षेत्रस्यपति[८] कहा जाता था जिसकी स्त्रीलिंग क्षेत्रस्य पत्नी[९] कहा गया है । कृषि के देवता शुना (वायु), सीर (आदित्य) और कहे गये हैं ।[१०] फाल की बनी मणि ऐश्वर्य दायक समझी जाती थी ।[११]

१- ८,१०,२६

२- १२,३,५५-५६

३- ५,४,३, ३,६,२-६, ६,११,१

४- ६,११,१, ६,३०,३

५- ६,८५,१

६- या सरर्थं ययाथोंवथे: स्वधामिदेवि पितृभिर्मदनी । १८,१,४३

७- वास्तोष्पति ६,७३,३ और भी ३,१२, ६,२३

८- नम: क्षेत्रस्य पतये । २,८,५ दृष्टव्य वै०माइकोलोजी, पृ० १३८

९- १०,६,३३

१०- ३,१७,५

११- १०,६

स. असुर और राक्षस

अथर्ववैदिक लोग देवों की अपेक्षा भूत, पिशाच, एवं राक्षस आदि दानवी शक्तियों में गहरा विश्वास करते थे । इन दानवों का स्वरूप भयंकर, इनके बाल बड़े बड़े थे तथा हाथ में सींग धारण करते थे । ये मनुष्य के कच्चे मांस का भक्षण करते थे तथा गर्भवती स्त्रियों को कष्ट पहुंचाते और उनके गर्भ तक को खा जाते थे ।[१] ये मायावी थे और माया से विभिन्न रूप धारण करते थे । परिवार में फूट और वैमनस्य का कारण इन्हें समझा जाता था । इनका एक लोक ही था ।[३] देवों से इनका सदा वैमनस्य रहता था । देव त्रिषन्धि (वज्र) की सहायता से असुरों का वध करते थे ।[४] निर्हस्त हवि प्रदान कर इन्द्र ने इनकी भुजाओं को काट लिया था ।[५] इनका पाटा और बज औषधि से भी नाश हो जाता था ।[६]

१- य आमं मांसमदन्ति ।
गर्भान्खादन्ति केशवान् । ८,६,२३

२- अयोजाला असुरा मायिनो....। १९,६६,१

३- ८,१०,२२

४- असुर क्षायणं वधं त्रिषन्धिं दिव्याश्रयन् । ११,१०,१०

५- इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्य: । ६,६५,३

६- कृणोम्यस्यै भेषजं बजं दुर्णामचातनम् । ८,६,३

८. गृह्यकर्माणि (संस्कार)

अथर्ववेद में संस्कारों का कहीं भी विधिवत वर्णन नहीं मिलता । इस काल में कुछ गृह-कर्म सम्पादित होते थे जिनसे कुछ प्रमुख संस्कारों पर भी थोड़ा बहुत प्रकाश पड़ता है ।

(१)गर्भाधान :- जन्म के पूर्व के संस्कारों में गर्भाधान का प्रथम स्थान है । भाष्यकार सायण ने इसका नाम चतुर्थीकर्माणि दिया है ।[१] इस संस्कार का विवरण विवाह काण्ड[२] में मिलता है । विवाह की विधियों में ही यत्र तत्र इस संस्कार के मंत्र भी प्राप्त हो जाते हैं । इससे ज्ञात होता है कि यह संस्कार विवाह के शीघ्र पश्चात् ही मनाया जाता था ।[*] एक मंत्र से ज्ञात होता है कि रात्रि के समय वधू अपने शयनकक्ष में ले जायी जाती थी । जहां वह और वर एक दूसरे के नेत्रों को अभिषिक्त करते थे ।[३] वधू अपने पति को मनु-जात वस्त्र पहनाती थी ।[४] इसके बाद उपर्युक्त मंत्रों का उच्चारण कर पति उसे अपनी शैय्या पर आरूढ़ होने के लिये कहता था । "इस शैय्या पर आरूढ़ हो, इस पति के लिये सन्तति उत्पन्न करो, इन्द्राणी की भांति सुख पूर्वक (प्रात:) जागते हुये ज्योतिष्मती उषा की प्रतीक्षा

१- सायण, अथर्ववेद के १४वें काण्ड की भूमिका ।

२- वही १४वां काण्ड ।

३- अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ सम जनम् ।
अन्त: कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति ।।
७,३६,१

*- द्रष्टव्य हिन्दू संस्कार - डा० राजबली पाण्डेय, पृ० ६१ (हिन्दी संस्करण) भी

४- अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा ।
यथासो ममकेवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ।। ७,३७,१

करो ।[1] अतीतकाल में देवों ने भी अपनी पत्नियों के साथ सहवास किया था। उनके शरीर को अपने शरीर से आलिंगित किया था, पत्नी, तुम भी सूर्या की भांति पति से समागम करो ।[2] अन्य मंत्र में पत्नी को जंघे पर बैठाने, हाथ पकड़ने, और आलिंगन करने का संदर्भ है । इस प्रकार मनुष्य पत्नी में बीज वपन करता था ।[3] इन्द्र से प्रार्थना की जाती थी कि ये दम्पति युगल चक्रवाकों के समान साथ साथ अपने ऐश्वर्य से युक्त गृह में जीवन पर्यन्त रहें ।[4] बीज पुरुष में होता है उसे स्त्रियों के ~~उद्धर-जनन-है~~ गर्भाशय में सींचा जाता है ।[5] अन्त में पति अपनी पत्नी को संबोधित करते हुये कहता था, 'मैं पुरुष हूँ, तू स्त्री है, मैं साम हूँ, तू ऋचा है, मैं आकाश हूँ, तू पृथिवी है, इस प्रकार हम दोनों एक साथ निवास करेंगे, अभी सन्तान उत्पन्न करना है'।[6]

१- आ रोह तल्पं सुमनस्य मानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मैं ।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषास: प्रति जागरासि ।। १४,२,३१

२- देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नी: समस्पृशन्त तन्वस्तनूभि: ।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ।।
१४,२,३२

३- तां पूषं छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति ।
१४,२,३८

४- इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दंपती ।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ।। १४,२,६४

५- पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनुषिच्यते । ६,१,२

६- अमोहमस्मि सा त्वं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम । ता विह सं भवाम प्रजामा जनयावहै । २४,२,७१

एक सूक्त[1]का प्रयोग कौशिकर[2]ने यद्यपि पुंसवन संस्कार के लिये किया है तथापि इससे गर्भाधान विषयक सामग्री प्राप्त होती है। "जिस प्रकार महान् पृथिवी सम्पूर्ण प्राणियों को गर्भ में धारण करती है उसी प्रकार मैं तुम्हारे गर्भ को स्थापित करता हूँ, मैं तुम्हें रक्षण के लिये बुलाता हूँ।[3] हे सिनीवाली, गर्भ स्थापित करो, हे सरस्वती गर्भ धारण कराओ, तुम्हारे गर्भ को नीलकमल की माला धारण करने वाले दोनो अश्विनी कुमार धारण करावें।[4] विष्णु गर्भ की सर्जना करे, त्वष्टादेव रूप को निर्मित करे, प्रजापति (वीर्य) सेक करे और धाता गर्भ की स्थापना करें।"[5] इस प्रकार गर्भधारण के समय देवों की प्रार्थना की जाती थी। इन प्रार्थनाओं से गर्भाधान संस्कार के धार्मिक महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है।

१- सूक्त ५,२५

२- कौ० सू० ३५,५ व्हिट्ने ने इस सूक्त (५,२५) को सफलतापूर्वक गर्भ धारण के लिये प्रयुक्त बताया है। (अथर्ववेद का अनुवाद, पृ० २६५)

३- यथेयं पृथिवी माता भूतानां गर्भमा दधे।
एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे ।। ५,२५,२

४- गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वती।
गर्भं ते अश्विनाभाधत्तां पुष्करस्रजा ।। ५,२५,३

५- विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आ सिञ्चन्तु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ।। ५,२५,५

इस प्रकार अथर्ववैदिक काल में गर्भाधान संस्कार सम्पादित किया जाता था । अधिक सम्भव है कि इस अवसर पर कोई उत्सव भी मनाया जाता रहा हो । इस विषय में हम पूर्णतया अंधकार में ही हैं । कदाचित् यह विवाह का ही एक अंग था और विवाह के चौथे दिन मनाया जाता था ।[१]

(२)पुंसवन :- इस संस्कार को प्राजापत्य संस्कार भी कहा जाता था ।[२] पुंसवन में पुत्र की प्राप्ति के लिये कुछ कृत्य किये जाते थे । एक मंत्र से ज्ञात होता है कि इस उत्सव को शमी और अश्वत्थ वृक्षों के तले मनाया जाता था ।[३] स्त्री की कलाई में रक्षासूत्र[४] (परिहस्त) बाँधा जाता था । और परिहस्त को सम्बोधित करते हुए कहा जाता था कि "तुम रक्षा करने वाले हो, दोनों हाथों को धारण करते हो, राक्षसों को भगाते हो । सन्तति और धन को धारण करने वाला यह हाथ का बन्धन है ।[५] हे रक्षा सूत्र, गर्भ के लिये योनि को धारण करो, हे स्त्री, तुम पुत्र को धारण करो ।[६] पुत्र की

१- दृष्टव्य हिन्दू संस्कार, डा० राजबली पाण्डेय, पृ० ६० (हिन्दी संस्करण, १९५७)
 कौ०सू० (७९,२) में इसे विवाह के चौथे दिन संपादित करने के लिये निर्देश है ।

२- कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते । ३,२३,५

३- शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम् ।। ६,११,१
 कौशिक (३५,८) के मत में शमी और अश्वत्थ वृक्ष के मध्य में अग्नि की स्थापना की जाती थी और स्त्रियों के लिये अग्नि का विभिन्न रूपों में प्रयोग होता था ।

४- दृष्टव्य कौ०सू० (३५,११)

५- यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि ।
 प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम् ।। ६,८१,१

६- सायण ने मर्यादे का अर्थ पत्नी के सम्बोधन के अर्थ में किया है । जायायाः संबोधनम् सायण भाष्य मंत्र ६,८१,१ पर

कामना करने वाली अदिति ने जिस हस्तबंधन (परिहस्त) को धारण किया था उसे त्वष्टा यह कहते हुये कि यह स्त्री पुत्र को उत्पन्न करे, उसके हाथ में इसे बाँध दो ।[1] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि पुंसवन संस्कार में स्त्री के हाथ में मंगलसूत्र या रक्षासूत्र बाँधा जाता था और यह सूत्र पुत्र प्राप्ति का द्योतक समझा जाता था । इस प्रकार पुंसवन संस्कार में स्त्री के गर्भ में पुरुष सन्तति के आने की प्रार्थना की जाती थी ।[2] इसके साथ ही, यह भी प्रजापति इत्यादि से प्रार्थना की जाती थी कि स्त्री संतति किसी दूसरे के गर्भ में जाए और पुमान् संतति यहाँ इस गर्भ में आवे ।[3] अन्यत्र भी प्रजापति संतति को उत्पन्न करने वाले देव कहे गये हैं ।[4]

पुंसवन संस्कार में कुछ अभिचार भी किये जाते थे । "जिससे तुम बन्ध्या होगई थी, उस दोष को तुम्हारे अन्दर से नष्ट करता हूं । उसे हम तुमसे बहुत दूर अन्यत्र

१- मं परिहस्तमबिभरदिति पुत्रकाम्या ।
त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति ।।
६,८१,३

२- तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि । ६,११,१

३- प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्य चीक्लृपत् ।
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत्पुमांसमु दधदिह ।। ६,११,३

४- प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः ।
कौशिक ने उक्त मंत्र (७,१९,१) को संतति की अभिलाषा करने वाली स्त्री के संस्कार के लिये प्रयुक्त किया है ।

स्थापित करते हैं ।[1] अत: इससे कदाचित पुंसवन की विधि पर प्रकाश पड़ता है । दूसरे मंत्र में बाण का उल्लेख है जो सम्भवत: इस संस्कार का आधार था, तुम्हारी योनि में पुरुष-गर्भ आवे, जैसे बाण निषंग में आता है । दस महीने के पश्चात् तुम्हें वीर पुत्र उत्पन्न हो ।[2] अन्यत्र धातृदेव से प्रार्थना की गई है कि वे हृष्टपुष्ट, सुगठित रूप वाला पुत्र दसवें माह में उत्पन्न करने के लिये इस स्त्री में धारण करावें ।[3] तत्कालीन समाज में नारी को पुत्रवती होना श्रेयस्कर समझा जाता था अत: पुंसवन संस्कार के अगले मंत्र में उसे पुत्र को उत्पन्न करने और उसके पश्चात भी पुत्रों को ही मां बनने की आकांक्षा की जाती थी ।[4] इन मंत्रों में इस कृत्य को प्राजापत्य कहा गया है - मैं तुम्हारे इस प्राजापत्य (सम्बन्धी संस्कार) को करता हूँ, तुम पुत्र प्राप्त करो ।[5] गर्भिणी स्त्री को किसी प्रकार की औषधि भी इस मंत्र के साथ दी जाती थी - जिन वीरूधों (पौधों) का द्यौ: पिता है, पृथिवी माता है तथा समुद्र मूल है, वे दिव्य औषधियाँ पुत्र की प्राप्ति में (पुत्र विद्याय) तेरी सहायता करें ।[6]

१- येन वेहद् बभूविथ नाशयामसि तत् त्वत् ।
इदं तदन्यत्र त्वदप दूरे नि दध्मसि ।। ३,२३,१

२- आ ते योनि गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्य: ।। ३,२३,२

३- धात: श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्यो: ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ।। ५,२५,१०

४- पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान् ।
३,२३,३

५- कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनि गर्भ एतु ते ।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव।
३,२३,५

६- यासां द्यौ: पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरूधां
बभूव ।

इन संपूर्ण मंत्रों से अब यह स्पष्ट हो गया कि पुंसवन के लिये नाना विधि विधान प्रयुक्त होने लगे थे और इस संस्कार के प्रमुख तत्त्व अथर्ववैदिक काल में विद्यमान थे । फिर भी इस संस्कार के विविध पार्श्वों के नियामक परवर्ती विधियों का स्पष्ट प्रसंग नहीं प्राप्त होता है ।[1]

(३) सीमन्तोन्नयन :- यह संस्कार राक्षसों, दानवों आदि से गर्भ की रक्षा के लिये किया जाता था ।[2] गर्भ धारण के पश्चात् रोग, व्याधि और पापों के कारण गर्भ पात हो जाता है । अत: अथर्ववैदिक समाज में गर्भ संरक्षण के लिये औषधियों का सेवन और प्रार्थनायें की जाती थीं । इस कार्य के लिये अथर्ववेद में २६ मंत्रों का एक सूक्त प्राप्त होता है ।[3] इस सूक्त से परवर्ती संस्कार सीमन्तोन्नयन पर प्रकाश पड़ता है ।[4] इसका उद्देश्य भी

१- द्रष्टव्य, हिन्दू संस्कार - डा० राजबली पाण्डेय, पृ०७४

२- द्रष्टव्य, हिन्दू संस्कार, वही, पृ० ७८

३- सूक्त ८,६, कौशिक (८,२४) इस सूक्त के साथ सूक्त २,२ और ६,१११ को भी इसी कार्य के लिये उद्धृत करते हैं । सूक्त २,२ में गन्धर्वों की प्रार्थना की गई है और उससे इस विषय पर स्पष्ट विवरण नहीं मिलता । इसी प्रकार सूक्त ६,१११ भी अनावश्यक प्रतीत होता है ।

४- कौशिक ने इस सूक्त को मातृनामानि संस्कार के लिये प्रयुक्त किया है । 'यौ ते मातरेति मातृनामानि कौ०सू० ८,२४, पृ० ६६, ब्लूमफील्ड, बाल्तिमोयर १८८९ । इसी स्थल पर पाद टिप्पणी में अथर्ववेद पद्धति को उद्धृत किया गया है जहां उल्लेख है, अथ सीमन्तोन्नयनमुच्यते । अष्टमे मासि कर्म कुर्यात् । पद्धतियां बहुत बाद की हैं (द्रष्टव्य वही भूमिका पृ०१४) परन्तु उनका कथन कि इस का प्रयोग सीमन्तोन्नयन में होता था उचित प्रतीत होता है । द्रष्टव्य व्हिटने अथर्ववेद का अनुवाद, पृ० ९३ भी ।

राक्षसों, दानवों आदि से गर्भ रक्षा करना था ।[१] गर्भ धारण के पश्चात् उनमें तरह तरह के रोग कीटाणु पहुंच कर हानि पहुंचाते थे । इसलिये औषधियों से उन्हें नष्ट किया जाता था ।[२] 'हे स्त्री, तूने जो (गर्भ) धारण किया है वह गिरे नहीं, तुम्हारे नीचे पहनने वाले वस्त्र में बंधी हुई यह औषधि गर्भ की रक्षा करे'।[३] इस औषधि का नाम बज[४] है और यह दुष्टों की नाशक है । गर्भ को काले बालों वाले असुर क्षति पहुंचाते हैं । वे हाथ में सींग लिये रहते हैं और अट्टहास करते हैं ।[५] ये कच्चा और पुरुष का मांस खाने वाले हैं । ये गर्भ का भक्षण करने वाले हैं ।[६] उनसे सुरक्षा के लिये इन्द्र की प्रार्थना की गई है, 'हे इन्द्र, स्त्रियों के कटि प्रदेश को व्यथित करने वाले राक्षसों का वध करो'।[७] इस अवसर पर पिंग

१- हिन्दू संस्कार, वही, पृ० ७८

२- कुसूला ये च कुक्षिला ककुभा: करुमा स्त्रिमा: ।
तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् वि नाशय ।।८,६,१०

३- परिसृष्टं धारयतु यद्धितं माव पादि तत् ।
गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ ।। ८,६,२०

४- कृणोम्यस्यै भेषजं बजं दुर्णामचातनम् ।। ८,६,३

५- हस्ते शृंगाणि बिभ्रत: । प्रहासिन ।। ८,६,१४

६- य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रवि: ।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ।।८,६,२३

७- स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन: इन्द्र रक्षांसि नाशय ।।
८,६,१३

से प्रार्थना की गई है[1] कि हे पिंग, जो कोई भी स्त्री के गर्भ को पीड़ित करता है, उसे मैं मारता हूँ। तुम तीव्र बाण बन कर उसके हृदय में चुभ जाओ[2]। इससे परिलक्षित होता है कि इस कार्य में मंत्रसिद्ध श्वेतपीत सर्षप का प्रयोग होता था। उनका ऐसा विश्वास था कि यह सरसों गर्भ में पुत्र की रक्षा करता है और उसे कन्या नहीं बनाता।[3] वह मनौती करते थे कि 'हे पिंग, तुम सन्तानहीनता, रूलायी, बन्ध्यात्व और पापों को हमारे शत्रुओं के पास प्रेषित करो।[4] गर्भ संरक्षा के इन कृत्यों से पश्चात् काल के 'सीमन्तोन्नयन' संस्कार का ज्ञान प्राप्त होता है। प्राचीन काल में सम्भवतः इसका नाम 'मातृनामानि था'।[5]

(४) जातकर्म :- अथर्ववेद में जातकर्म संस्कार का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। परन्तु एक सम्पूर्ण सूक्त[6] में सरल तथा सुरक्षित प्रसव के लिये प्रार्थना की गई है। इससे जातकर्म संस्कार के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। एक मंत्र में कहा गया है, "हे पूषन्, प्रसव के इस अवसर पर

१- सायण ने पिंग को गौरवर्ण के सरसों से समीकृत किया है (द्रष्टव्य सायण भाष्य मंत्र ८,६,१८ पर) इस सूक्त (८,६) की भूमिका में कौशिक (३५,२०) को उद्धृत करते हुये कहते हैं कि इस सीमन्तोन्नयन कर्म में श्वेत और पीत सर्षप को गर्भिणी के हाथ में बांध देना चाहिये 'यौ ते माता इति मन्त्रोक्तौ बध्नाति' (कौ०सू०३५,२०)

२- यस्ते गर्भं प्रतिमृज्जातं वा मारयाति ते।
पिंगस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम्॥ ८,६,१८

३- पिंगरक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्।
आण्डादो गर्भान्मा दभन् बाधस्वेतः किमीदिनः॥ ८,६,२५

४- अप्रजास्त्वं मार्तवत्समाद् रोदमघमावयम्। ८,६,२६

५- कौ० सू० ८,२४

६- सूक्त १,११ द्रष्टव्य कौ० सू० ३३,१

के ये कृत्य गृह्य सूत्रों के शोष्यन्ती-कर्म के समान हैं। जिनमें शीघ्र प्रसव के लिये कृत्यों का वर्णन है।

अशुभ मुहूर्त में उत्पन्न शिशु की शान्ति के उपचार :-

एक सूक्त[1] से अशुभ समय में उत्पन्न बालक के उपचार की विधि का वर्णन है। इसमें अग्नि की प्रार्थना की गई है, "हे अग्नि, तुम चिरन्तन पुरुष होने के कारण पूज्य हो, तुम यज्ञों में प्राचीन होता हो, तुम अब नवीन होता बन कर बैठो, हे अग्नि तुम आज्य आदि हव्य से अपने शरीर को पूर्ण बनाओ और हम लोगों को सौभाग्य प्रदान करो[2]"। इससे प्रतीत होता है कि इस शान्ति कर्म में अग्नि देव को आवाहित किया जाता था और उन्हें हवि प्रदान की जाती थी। दूसरे मंत्र में कथन है कि ज्येष्ठघ्नी[3] नक्षत्र में उत्पन्न हुआ पुत्र अपने से बड़ों का नाश करने वाला न हो। इस अवसर पर कहा गया है कि यम के मूल बर्हण से इसकी रक्षा करो और इसको सभी दोषों

१- सूक्त ६,११०, कौशिक ने इस सूक्त का प्रयोग पाप नक्षत्र में उत्पन्न सन्तान की शान्ति के उपचार के लिये किया है।
'प्रत्नो हीति पाप नक्षत्रे जाताय मूलेन'। कौ०सू०४६,२५

२- प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्चहोता नव्यश्च सत्सि।
स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रायस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व ।।
६,११०,१

३- ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम्।
अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय
६,११०,२

द्रष्टव्य, सायण का भाष्य, इस मंत्र पर

विद्वान् और श्रेष्ठ होता तेरा यज्ञ करे और नारी भली भांति शिशु को जन्म दे तथा प्रसूती के शरीर के सन्धि स्थान (पर्वाणि) प्रसव करने के लिये विशेष रूप से ढीले हो जायें।"[1] ब्रह्म पुराण में भी पुत्र जन्म के अवसर पर किये गये इस कार्य को नान्दी श्राद्ध कहा गया है।[2] इस सूक्त के अन्य मंत्रों से ज्ञात होता है कि इस समय कुछ अभिचार कृत्य किये जाते थे जिसमें देव प्रार्थनाएँ भी होती थी। "देवों ने ही गर्भ को भेजा था अब वे ही उसे प्रसव के लिये गर्भाशय से बाहर करें।[3] हे सूषणे, (सुखु-प्रसाविनी स्त्री) तू अपने अंगों को शिथिल कर दे। हे निष्कले, तू गर्भ को नीचे की ओर प्रेरित कर।[4] मैं तेरे मेहन अथवा मूत्रद्वार को भिन्न करता हूँ तथा योनि को विस्तृत करता हूँ। योनि मार्ग में स्थित नाड़ियों को पृथक करता हूँ, माता और पुत्र को पृथक करता हूँ, तथा कुमार अथवा शिशु को जरायु से पृथक करता हूँ।"[5] अथर्ववेद

१- वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः।
   सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ।।
   १,११,१

२- नान्दी श्राद्धावसाने तु जातकर्म समाचरेत।। उद्धृत
   हिन्दू संस्कार - डा० राजबली पाण्डेय, पृ० ६४

३- चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत।
   देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे।। १,११,२

४- अथया सूषणे त्वमव त्वं विष्कले सृज।। १,११,३

५- वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके।
   वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु
   पद्यताम्।। १,११,५

के ये कृत्य गृह्य सूत्रों के शोष्यन्ती-कर्म के समान हैं। जिनमें शीघ्र प्रसव के लिये कृत्यों का वर्णन है।

अशुभ मुहूर्त में उत्पन्न शिशु की शान्ति के उपचार :-

एक सूक्त[1] से अशुभ समय में उत्पन्न बालक के उपचार की विधि का वर्णन है। इसमें अग्नि की प्रार्थना की गई है, "हे अग्नि, तुम चिरन्तन पुरुष होने के कारण पूज्य हो, तुम यज्ञों मे प्राचीन होता हो, तुम अब नवीन होता बन कर बैठो, हे अग्नि तुम आज्य आदि हव्य से अपने शरीर को पूर्ण बनाओ और हम लोगों को सौभाग्य प्रदान करो[2]।" इससे प्रतीत होता है कि इस शान्ति कर्म में अग्नि देव को आवाहित किया जाता था और उन्हें हवि प्रदान की जाती थी। दूसरे मंत्र में कथन है कि ज्येष्ठघ्नी[3] नक्षत्र में उत्पन्न हुआ पुत्र अपने से बड़ों का नाश करने वाला न हो। इस अवसर पर कहा गया है कि यम के मूल बर्हण से इसकी रक्षा करो और इसको सभी दोषों

१- सूक्त ६,११०, कौशिक ने इस सूक्त का प्रयोग पाप नक्षत्र में उत्पन्न सन्तान की शान्ति के उपचार के लिये किया है।
'प्रत्नो हीति पाप नक्षत्रे जाताय मूलेन'। कौ०सू०४६,२५

२- प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्चहोता नव्यश्च सत्सि।
स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रायस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व ।।
६,११०,१

३- ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम्।
अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय
६,११०,२

द्रष्टव्य, सायण का भाष्य, इस मंत्र पर

से मुक्त करो जिससे यह सौ वर्ष की दीर्घायु प्राप्त करे।[1]
इससे अवगत होता है कि ज्येष्ठा और मूल में उत्पन्न
शिशु अशुभ समझे जाते थे। और उनके उपचार के लिये
कृत्य किये जाते थे। जिससे वह माता पिता और बड़ो
के लिये मंगलकारी बने।[2]

१- ज्येष्ठघ्नी के लिये द्रष्टव्य सायण भाष्य मंत्र ६,११०,२
पर। सायण ने इसका अर्थ ज्येष्ठा नक्षत्र ज्येष्ठाख्यं
नक्षत्रम् किया है। सायण का भाष्य उचित ज्ञात होता
है क्योंकि अथर्ववेद के विवरण से तत्कालीन नक्षत्र विद्या
का ज्ञान प्राप्त होता है। एक मंत्र में ज्येष्ठा नक्षत्र
का मूल नक्षत्र के साथ ही प्रसंग आया है जिसमें ज्येष्ठा
को अच्छा नक्षत्र होने तथा मूल को कष्ट निवारक
होने का वर्णन है, ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम् १९,७,
३, कदाचित ज्येष्ठा नक्षत्र में उत्पन्न बालक अपने
बड़ों का घातक होता था। ज्येष्ठा के साथ मूल नक्षत्र
का भी वर्णन है (वही १९,७,३) सायण ने मूल
नक्षत्र का भाष्य करते हुये कहा है कि मूलनक्षत्र हि
मूलोन्मूलनकरम्। इस प्रकार मूल नक्षत्र में भी उत्पन्न
बालक अशुभ समझा जाता था। तैतिरीय ब्राह्मण
(१,५,२,८) में कथन है कि मूलम् एषाम् अवृक्षामेति
तन्मूलवर्हणी: जो मूल वंश वृक्ष को नष्ट कर देता है
वह मूल वर्हण है।

२- व्याघ्र ह्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमान: सुवीर:।
स मा वधीत् पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र
मिनीज्जनित्रीम्।। ६,११०,३

(५) अन्न प्राशन :- अथर्ववेद के सूत्रकार कौशिक[१] पर भाष्य करते हुये केशव[२] ने अथर्ववेद के कुछ मंत्रों को अन्न प्राशन संस्कार के लिये उद्धृत किया है। परन्तु इन मंत्रों से अन्त्येष्टि क्रिया के उस अंश पर ही प्रकाश पड़ता है जब मृत को समाधि में रखने के लिये पृथिवी से प्रार्थना की जाती थी और स्वधा दान दिया जाता था।[३] अतः इससे अन्न प्राशन जैसे पवित्र संस्कार के विषय में लेशमात्र भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता। परन्तु एक अन्य सूक्त[४] से अन्न प्राशन जैसे एक संस्कार के विषय में सामग्री प्राप्त होती है। जिसे कौशिक ने बालक के प्रथम दन्त दर्शन-कृत्य के लिये प्रयुक्त किया है। इस अवसर पर बच्चा और उसके मातापिता को चावल, जौ, माष, तिल इत्यादि का भोजन कराना चाहिये।[५] इस सूक्त से बच्चे द्वारा प्रथम दन्त दर्शन के अवसर पर अन्न प्राशन का भी आभास मिलता है। ये दांत लगभग छः महीने के

१- कौ०सू० ५८,१७

२- केशव,उद्धृत एन० जे० शिन्डे, 'रलिजन एण्ड फिलासफी आफ द अथर्ववेद,' पृ० १०३। पूना, १९५२
मंत्र १८,२,१८-२२

३- असंबाधे पृथिव्या उरौ लोके नि धीयस्व।
स्वधा याश्चकृषे जीवन् तास्ते सन्तु मधुश्चुत ॥
१८,२,१९
कौशिक ने इन मंत्रों के विषय में कोई भी चर्चा नहीं की है।

४- ६,१४०

५- कौ० सू० (४६-४३-४६) यस्यौत्सृदन्तौ पूर्वौ जायेते यौ व्याघ्रावित्यावपति। मन्त्रोक्तान्दशयति। शान्त्युदककृत्मादिष्टानामाशयति। पितरौ च।
जिसके प्रथम पहले दो दाँत उत्पन्न होते है, जो दोनों व्याघ्र, इस मंत्र से खाधानों को मुंह में डालना चाहिये। पिता मंत्रों को पढ़कर दाँत से अन्न कटवाता है। शान्ति उदक में बने अन्न बच्चे और माता पिता खाते हैं।

उपरान्त निकल जाते हैं । इस से प्रतीत होता है कि यह संस्कार जन्म से छटवें महीने मनाया जाता था ।
हे दोनों दांतों, चावल खाओ, जौ खाओ, उसके बाद माष और तिल खाओ । यह तुम्हारा भाग है वह कोश वृद्धि करने वाला हो । तुम माता पिता के लिये हानि-कारक न बनो ।[१] व्याघ्र के समान बलिष्ठ निकले हुए दोनों दांत माता और पिता के लिये हानिकारक हैं । उन्हें हे ब्रह्मणस्पति, हे जातवेदस् शुभकारी बनाओ ।[२] ये दोनों दांत सम्पूजित हैं, सुखकारी और मंगलदायक हैं, जो तुम्हारे भयंकर परिणाम हैं वे अन्यत्र जायें और हे दांत तुम माता पिता की हिंसा न करो ।[३] इस प्रकार इस उद्धरण में अन्न प्राशन और अशुभ दांतों से सम्बन्धित संस्कारों का वर्णन मिलता है ।

<u>शिशु का वस्त्र परिधान एवं संरक्षण</u> :- एक मंत्र में शिशु की रक्षा के लिये अग्नि से प्रार्थना की गई है । हे अग्नि, इस बालक की आयु वृद्धावस्था तक बढ़ाओ, तुम घृत मधु और गव्य का पान कर इस बालक की पितृवत रक्षा करो ।[४] अगले मंत्र से ज्ञात होता है कि इस समय बच्चे को

१- व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम् ।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ।। ६,१४०,२

२- यौ व्याघ्राववरूढौ जिघत्सतः पितरं मातरं च ।
तौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते शिवौ कृणु जातवेदः ।। ६,१४०,१

३- उपहूतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुमङ्गलौ ।
अन्यत्र वां घोरं तन्वः परैतु दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ।। ६,१४०,३

४- आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम् । २,१३,१

नवीन वस्त्र पहनाया जाता था । 'वस्त्र तुम्हारी रक्षा करे '।[1] उसके पश्चात् बालक को पाषाण खण्ड पर खड़ा कराया जाता था ।[2] इस अवसर पर कहा जाता था कि 'हम तुम्हे पहली बार वस्त्र पहनाते हैं, तुम्हे देव गण सुरक्षित रखें और तुम्हारे पश्चात् बहुत से भ्राता उत्पन्न हों[3] '।

(६) चूडाकरण और गोदान :- एक सूक्त को कौशिक ने गोदान, चुडाकरण और उपनयन तीनों के लिये प्रयुक्त किया है । अत: यह कहना कठिन है कि किस संस्कार विशेष के लिये इस सूक्त में चर्चा है ।[4] एक मंत्र में सविता से छुरा लाने की प्रार्थना की गयी है और वायु से गर्म जल ।[5] सम्भवत: नाई से बाल काटने के पूर्व संस्कार के अनुसार ब्राह्मण पुरोहित कुछ बालों को काटता था । मंत्र में कथन है कि[6] 'जिस उस्तुरे से सविता देव ने राजा सोम और वरुण की हजामत बनाई थी हे ब्रह्मन, (पुरोहित), इसका क्षौर करो वह गौओं,

---

१- परीदं वासो अधिथा: स्वस्तये । २,१३,२

२- एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनु: ।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरद: शतम् ।।२,१३,४

३- ते वास: प्रथमवास्यंहरामस्तं त्वा विश्व वस्तु देवा ।
तं त्वा भ्रातर: सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां बहव: सुजातम् ।। २,१३,४

४- कौ०सू० ५३,१७-२०, गोदान के लिये, ५५,२, उपनयन के लिये , और ५४,१५-१६, चुडाकरण के लिये उसे प्रयुक्त करता है ।

५- अयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि ।६,६८,१

ऐश्वर्य और अश्वों से युक्त होवे।[1] ये वर्णन बालक के चुडाकरण संस्कार की ओर संकेत करते हैं।[2]

(७) उपनयन :- अथर्ववेद में उपनयन शब्द का प्रयोग आचार्य द्वारा छात्र को ग्रहण करने के अर्थ में किया गया है। यह उल्लेखनीय बात है कि उपनयन शब्द सर्वप्रथम अथर्ववेद में ही एक स्थान पर मिलता है।[3] इस मंत्र पर आलोचना करते हुए व्हिट्नी[4] महोदय कहते हैं कि उप-नी शब्द प्राय: पहले ही से छात्र को संस्कृत कर ग्रहण करने के लिये रूढ़ि बन गया था।[5] इस पाश्चात्य लेखक के अतिरिक्त अथर्ववेद के सूत्रकार कौशिक ने इस मंत्र को उपनयन के लिये प्रयुक्त किया है।[6] इस प्रकार उपनयन अथर्ववैदिक काल में पूर्ण रूप से प्रचलित संस्कार ज्ञात होता है।[6] आचार्य उपनयन करता हुआ ब्रह्मचारी को गर्भ में धारण करता है। वह तीन रात्रि पर्यन्त उसे उदर में रखता है। जब वह जन्म (नवीन या द्वितीय जन्म) ग्रहण

१- द्रष्टव्य कौ०सू० ५४,१५-१६ येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्। तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान्।६,६८,३

२- द्रष्टव्य, हिन्दू संस्कार, डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ० १२१

३- आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्त:। ११,५,३

४- व्हिट्नी, अथर्ववेद का अनुवाद, पृ०६३६

५- कौ०सू० ५५,१८ पर अथर्ववेद पद्धति की टीका द्रष्टव्य ब्लूमफील्ड, बाल्टिमोयर,१८८६, पृ० १५५

६- हिन्दू संस्कार,वही, पृ० १३५

करता है तब देवगण उसे देखने के लिये एकत्र होते हैं ।[१]
इससे प्रतीत होता है कि उपनयन संस्कार अध्यापक ही
कराता था । उपनयन संस्कार में कई विधियों का वर्णन
मिलता है जो इस प्रकार है:-

क्षौर कर्म :- उपनयन संस्कार में उष्ण जल में
सिर को भीगो कर शिष्य के बाल काट दिये जाते थे ।[२]

वस्त्र परिधान :- शिष्य को पहनने के लिये नवीन
वस्त्र कौपीन (नीवि) और चादर (परिधान) दिये जाते
थे ।[३] और पुराने वस्त्र उतार लिये जाते थे । मंत्र में नीवि
और परिधान को स्पर्श में रुक्ष न होने की प्रार्थना की
गई है (संस्पर्शेऽदूरूणमस्तु)[४] । अत: इससे स्नान के पश्चात्
पहनी जाने वाली मुंज मेखला का आशय मिलता है ।

मेखला :- एक सूक्त में ब्रह्मचारी द्वारा मेखला धारण
करने का उल्लेख है ।[५] सम्पूर्ण सूक्त को उद्धृत करना उचित
प्रतीत होता है क्योंकि उपनयन संस्कार में मेखला का अधिक
महत्त्व है ।[६] मेखला ऋषियों का शस्त्रास्त्र कही गयी है तथा

१- आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्त: ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति
देवा ।। ११,५,३

२- यत् ते क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु ।
शुभं मुखं मा न आयु: प्रमोषी: । ८,२,१७
कौशिक (५५,३१) ने इस मंत्र के उच्चारण के साथ बाल
काटने का विधान किया है ।

३- यत् ते वास: परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम् ।
शिवं ते तन्वे तत् कृण्म: संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ।। ८,२,१६
परीदं वासो अधिथा स्वस्तये । २,१३,३

४- वही ८,२,१६

५- सूक्त ६,१३३. कौशिक (५६,१. ५७,१) मे केवल इस
सूक्त के ४ और ५ मंत्रों को उपनयन में मेखला बंधन के
लिये उल्लिखित किया है । परन्तु सम्पूर्ण सूक्त ही
मेखला सम्बन्धी है ।

६- द्रष्टव्य, हिन्दू संस्कार, वही, पृ० १६८-६९ ।

छात्र के व्रतों की रक्षा करते हुये शत्रुओं का नाश करने वाली है ।[1] अन्ये पुरोहित कहता है कि "चूंकि मैं यम का छात्र हूं इसलिये मैं प्राणियों से यम के लिये इस पुरुष को मांगता हूं । मैं उसे ब्रह्म, तप, और श्रम के (त्रिवृत) मेखला से बांधता हूं ।"[2] उक्त मंत्र से वैदिक छात्र का अध्यापक के प्रति कर्तव्य द्योतित होता है । मेखला ब्रह्मचारी को यह सूचित करती थी कि वह श्रद्धा और तप से उत्पन्न दुहिता, ऋषियों की भगिनी[3] तथा भूतकृता (जीवों का कल्याण करने वाली) है । वह उसके ऋत (व्रत) के गोपन में समर्थ है तथा दुष्ट भावों से उसकी रक्षा करेगी ।[4]

अश्मारोहण :- यह स्मृतिकालीन उपनयन संस्कार की एक विधि है । अथर्ववेद में एक मंत्र इसी विधि से सम्बन्धित प्रतीत होता है ।[5] वह इस प्रकार है, 'आओ इस प्रस्तरखण्ड पर खड़े हो, तुम्हारा शरीर पत्थर होवे, सभी देव तुम्हें सौ वर्ष वाली आयु प्रदान करें'।[6] अश्मा-

---

१- आहुतास्यभिहुत: ऋषीणामस्यायुधम् । पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ।। ६,१३३,२

२- मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय । तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ।। ६,१३३,३

३- श्रद्धया दुहिता तपसोऽधिजाता स्वस ऋषीणां भूतकृतां बभूव ।
सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च ।। ६,१३३,४

४- यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषय परिबेधिरे ।
सा त्वं परिष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले ।। ६,१३३,५

५- दृष्टव्य, हि०सं०, डा०राजबली पाण्डेय, पृ१७६ । कौशिक ने (५४,८) इस मंत्र का प्रयोग गोदान संस्कार के प्रसंग में किया है । परन्तु यह उपनयन के लिये उचित ज्ञात होता है ।

६- एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनू: ।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरद: शतम् ।। २,१३,४

रोहण की इस विधि से ज्ञात होता है कि छात्र किशोरावस्था में ब्रह्मचर्य जीवन की कठिन विधियों के पालन के सक्षम समझा जाता था ।

दीक्षा :- उपनयन में मुण्डित सिर वाले छात्र को दीक्षा दी जाती थी ।[१] एक मंत्र में ब्रह्मचारी का विशेषण 'दीक्षित:' भी है । अत: उपनयन में दीक्षा विधि भी सम्पन्न होती थी । इस उत्सव में कृष्णमर्ग चर्म धारण करने, समिधा एकत्र करने और दाढ़ी मूंछ रखने की दीक्षा दी जाती थी ।[२]

त्रिरात्रव्रत :- उपनयन की विधि विधानों की समाप्ति पर आचार्य छात्र को दाहिने हाथ से पकड़ता था और छात्र को आचार्य के यहां तीन दिन कठोर व्रत करना पड़ता था उसके पश्चात् उसका नया जन्म होता था ।[३]

मेधाजनन :- उपनयन में त्रिरात्र व्रत के अन्त में मेधा जनन की विधि सम्पन्न होती है । मेधा से सम्बन्धित एक सम्पूर्ण सूक्त उपलब्ध है ।[४] सूक्त इस प्रकार है, "हे मेधा, तू गौओं और अश्वों के साथ आओ, तुम सूर्य की किरणों के समान आओ, तुम हमारे लिये यजनीय हो ।[५] जिस मेधा

१- 'दीक्षाते वटुर्मुण्डितमस्तक:' इति दुर्गादास:' उद्धृत शब्द कल्पद्रुम भाग २, पृ० ७१४, दिल्ली ।

२- ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रु ।। ११,५,६

३- मंत्र ११,५,३ । द्रष्टव्य हिन्दू सं०, डा०राजबली पाण्डेय वही पृ० १७६ ।

४- कौ०सू० ५७,२८ में अग्नि की पूजा करने के पश्चात् इसे उपनयन में प्रयोग करने का विधान है ।

५- त्वं नो मेधे प्रथमा गोभिरश्वेभिरा गहि ।
त्वं सूर्यस्य रश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञिया ।। ६,१०८,१

को ऋभुओं, असुरों और ऋषियों ने जाना है वह मंगलकारिणी मेधा मुझ में प्रविष्ट हुई है ।[1] हे अग्नि, इस मेधा से हमें मेधावी बनाओ ।[2] वह मेधा सायं-प्रात: और दोपहर को तेज और सूर्य की किरणों सहित मुझ में प्रविष्ट हुई है ।[3] इससे प्रतीत होता है कि मेधाजनन संस्कार भी उपनयन का अंग था ।

उपनयन विषयक प्राप्त सामग्रियां यह सिद्ध करती है कि अथर्ववैदिककाल में उपनयन एक रूढ़िगत एवं परंपरागत संस्कार के रूप में स्वीकृत हो चुका था । उपनीत शिष्य की वेशभूषा परवर्ती ब्रह्मचारी[4] की भाँति ही थी । उपनयन संस्कार में अग्नि की पूजा, सूर्य की पूजा, ब्रह्मचारी को कौपीन और नया वस्त्र धारण करना ये सभी विधियाँ उस समय ज्ञात थी । ब्रह्मचारी काले मृग का चर्म धारण करता था, भिक्षाटन[5] करता था और देवों को समिधा दान करता था । ये सभी प्रसंग अथर्ववैदिक उपनयन संस्कार के प्रबल प्रमाण है ।[6] बालकों की भाँति कन्याओं का भी उपनयन होता था ।[7] इसका प्रमाण

१- यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदु: ।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्यावेशयामसि ।। ६,१०८,१

२- तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ।। ६,१०६,४

३- मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि ।
मेधा सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ।। ६,१०८,५

४- इसके लिये द्रष्टव्य ब्रह्मचारी जहाँ हमने उसके कर्तव्य आदि का उल्लेख किया है ।

५- इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार । ११,५,६

६- द्रष्टव्य हि०सं०, पृ० १४५

७- ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । ११,५,१८

परवर्ती ग्रंथों[1] में भी है जहाँ पूर्वकाल में कन्याओं को मौंजी बन्धन का उल्लेख है ।

(८) समावर्तन-संस्कार :- समावर्तन संस्कार के प्रसंग में डा० राजबली पाण्डेय का कथन है कि संस्कृत साहित्य में अध्ययन की तुलना एक सागर के साथ की जाती थी और जो व्यक्ति विद्याओं का अध्ययन कर प्रकांड पण्डित होजाता था, यह समझा जाता था कि उसने सागर को पारकर लिया है ।[2] इस प्रकार का प्रसंग अथर्ववेद में ब्रह्मचारी सूक्त[3] के अन्तिम मंत्र में आया है,"इन वस्तुओं को निर्मित करते हुये ज्वाजल्यमान (तप्यमान:) और तपोमय (तपस्या से युक्त होकर) ब्रह्मचारी समुद्र के जलपीठ पर खड़ा था । इस प्रकार स्नान किया हुआ वह भूरे और लाल वर्ण वाला ब्रह्मचारी पृथिवी पर अतीव शोभा पाता था ।"[4] इस मंत्र में स्नान किया हुआ (स्नात:) ब्रह्मचारी समावर्तन संस्कार से परिष्कृत हुआ सा है वर्णित है । समावर्तन संस्कार का दूसरा नाम स्नान संस्कार भी है, जो स्नान को करने वाला होता है उसे स्नातक कहते हैं । अत: स्पष्ट है कि अथर्वकाल में भी ब्रह्मचर्य जीवन की समाप्ति का द्योतक स्नान संस्कार था ।

१- पुराकल्पे तु नारीणां मौंजी बन्धनमिष्यते ।
अध्यापनं च वेदानां साविन्नी वचनं तथा । उद्धृत एजुकेशन इन ए० इं० - अल्तेकर, पृ०२०७, वाराणसी १९५७ ।

२- द्रष्टव्य वही, हिन्दू संस्कार, पृ० १८७, बनारस, १९५७

३- ११,५ इस सूक्त में ब्रह्मचारी के उपनयन, आचार्य के यहाँ रहन सहन और कर्तव्य आदि का सम्यग् वर्णन है । उसके अन्त स्नान का उल्लेख महत्वपूर्ण है । ~~द्रष्टव्य ब्रह्मचारी २,~~

४- तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमान: समुद्रे ।
स स्नात: बभ्रु पिङ्गल: पृथिव्यां बहु रोचते ।।११,५,२६

(९) विवाह-संस्कार

विवाह काण्ड में प्राप्त मंत्रों के आधार पर उस काल के विवाह संस्कार का क्रमबद्ध वर्णन कठिन है ।

सूक्त[1] के वर्णन क्रम से तो ज्ञात होता है कि विवाह वर के घर पर ही सम्पन्न होता था जहाँ वधू पिता के घर से वर के घर रथ पर चढ़ कर जाती थी । परन्तु यहप्रसंग उस समय के लिये सटीक बैठता है जब विवाह के उपरान्त वधू पति के घर के लिये प्रस्थान करती है । क्योंकि बाद के मंत्रों से प्रतीत होता है कि पतिगृह में विवाह के पश्चात वधू प्रवेश करती है ।[2] और एक स्थान पर पुनः वधू रूप सूर्या का सुनहले और चित्र विचित्र कपड़ों से आवृत एवं अच्छे पाहिये वाले रथ में बैठ कर पति के घर जाने का उल्लेख है ।[3] इसलिये सम्पूर्ण विवरण को देखने से यह प्रगट होता है कि विवाह वधू के गृह में होता था ।[4]

वधू का स्नान: - इस अवसर पर कन्या को सात नदियों के जल[5] को सैकड़ों प्रकार से पवित्र करके युवा (मैथि:)

१- १४,१, सूर्याया वहतु: प्रागात् । त्रिचक्रेण वहतुं सूर्याया: । १४,१,१३,१४

२- गृहान् गच्छ गृहपत्नी । १४,२,७५
स्योना श्वश्र्वै गृहान् विशेमान् । १४,२,२६

३- सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।
आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम् ।
१४,१,६१

४- दृष्टव्य, हि०सं०, डा० राजबली पाण्डेय, पृ०२५६

५- आप: सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहस: ।। १४,२,४५

पर बैठा कर नहलाया जाता था।[१] मंत्र इस प्रकार है :-
"तुम्हें स्वर्ण, पवित्र जल, युवा (जुआठ) और स्तम्भ आदि पवित्र करें एवं मंगलमय होकर सैकड़ों प्रकार से पवित्र जल तुम्हारे लिये शुभकारी हो। तुम्हारे पति का शरीर शुभ हो तथा उसका स्पर्श तुम्हारे लिये मंगलकारी होवे"।[१] ग्रिफिथ महोदय का मत है कि उपर्युक्त स्वर्ण (हिरण्य) स्त्री के आभूषण का द्योतक है और युवा (मेथि:) कृषि का चिन्ह है।[२] वेबर[३] का कथन है कि स्तम्भ (तर्ध) वधू के दृढ़व्रत का प्रतीक है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि संस्कार के आधुनिक उपकरणों उदक, युवा एवं स्तम्भ (हरिस) का उस काल में भी प्रयोग होता था। स्नान के पश्चात् वधू सौ दांत वाली बनी हुई कंघी (कण्टक) से सिर के मैल को निकाल कर केश विन्यास करती थी[४]। वह अपने नेत्रों में अंजन लगाती थी[५] उसका केश श्रृंगार, ओपश और कुरीर के रूप में हुआ था।[६]

१- शं ते हिरण्यं शमु सन्त्वाप: शं मेथिर्भवतु शं युगस्य तर्ध ।
   शं त आप: शत पवित्रा भवन्तु शमु पत्या तन्वं सं स्पृशस्व ।।
   १४,१,४०

२- अथर्ववेद का अनुवाद, भाग २, पृ० १९९ टिप्पणी

३- वेबर उद्धृत वही पृ० १९७ टिप्पणी

४- कृत्रिम: कण्टक: शतदन् य एष: ।
   अपास्या: केश्यं मलमपं शीर्षण्यं लिखात् ।। १६,२,६८

५- चक्षुरा अभ्यञ्जनम् । १४,१,८

६- कुरीरं छन्द ओपश: ।

नवीन वस्त्र परिधान :- स्नान के पश्चात् वधू को वस्त्र पहनाया जाता था। विवाह सम्बन्धी इस वस्त्र को वाधूय कहा जाता था। उनका ऐसा विश्वास था कि यह वाधूय वस्त्र देवों द्वारा मनु को दिया गया था।[1] उसका वस्त्र नवीन, सुरभित एवं सुगन्धित होता था।[2] उसके वस्त्रों में चादर (उपवासस्) नाभि के पास पहननेवाले वस्त्र (नीवि) और शरीर प्रधान वस्त्र उल्लेखनीय हैं। इनको पहनने पर उसका शरीर-सुशोभित हो जाता था।[3]

आशीर्वचन: - विवाह में पुरोहित वर वधू को आशीर्वाद देता था। तुम दोनों यहीं रहो, वियुक्त न हो, पुत्र और पौत्र से मुदित होते हुये सुखपूर्वक हंसते खेलते सम्पूर्ण आयु का उपभोग करो।[4] इस उदाहरण में भौतिक जीवन के प्रति आर्यों की उत्कंठा छिपी है। वर पक्ष के लोग मंगलमयी वधू की आकांक्षा रखते थे।[5] मंडप में बैठी वधू पति को सौ वर्ष जीने के लिये प्रार्थना करती थी।[6]

१- देवैर्दत्तं मनुना साकमेतद् वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम्।
१४,२,४१

२- नवं वसानः सुरभिः सुवासा उदागां जीव उषसो विभातीः। १४,२,४४

३- या मे प्रियतमा तनूः सा मे बिभाय वाससः।
तस्याग्रे त्वं वनस्पते: नीविं कृणुष्व मा वयं रिषाम।।
१४,२,५०

४- इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ।। १४,१,२२

५- सा नो अस्तु सुमङ्गली। १४,१,६०

६- इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका।
दीर्घायुरस्तु मे पति जीवाति शरदः शतम्।।१४,२,६३

दीक्षा :- इस संस्कार में दीक्षा का भी महत्व था। दीक्षा प्राय: संस्कारकर्ता के संरक्षण के लिये दी जाती थी।[१] गौतमीय तंत्र में इस दीक्षा को गुरू प्रदान करता हुआ प्रदर्शित है।[२] दीक्षा में यजमान को कर्मकाण्ड करने के लिये पवित्र किया जाता है। अथर्ववेद में कथन है कि ये कन्यायें पिता के घर से पति के यहाँ जाने की इच्छा करती हैं इन्हें दीक्षा को प्राप्त करने दिया जाए।[३] पुरोहित कहता था कि "जिस शोभा (वर्चस्) को बृहस्पति आदि देव धारण करते हैं उसे हम इस वधू में संलग्न करते हैं। इस प्रकार उसमें तेज, यश तथा गौओं का दूध और रस प्रविष्ट हों।"[४] इसके पश्चात् मंत्रसिद्धि और टोना टोटका को दूर करने के लिये उसे स्नान कराया जाता था। "आसनी (आसन्दी, बैठने की चटाई), गद्दे (उपधानें) अथवा चादर (उपवासन) में जो इन्द्रजाल (कृत्य) किया गया हो, या इस विवाह में जो कृत्या की गई हो उसे मैं इस स्नान में निक्षिप्त करता हूँ"।[५] इसके पश्चात् दुष्कर्मों को नष्ट करने और वस्त्रादि पर किये गये इन्द्रजाल को दूर हटाने का प्रयत्न किया जाता था।[६] इस प्रकार दीक्षा से वर-वधू यज्ञ करने योग्य और

१- दीक्षाया गुप्ता १२,५,३ दीक्षा से रक्षित

२- गुरूमुखात् स्वेष्टदेवमन्त्रग्रहणम् गौतमीयतंत्र ७,२, उद्धृत शब्दकल्पद्रुम भाग २, पृ० ७१४

३- उशती: कन्यला इमा: पितृलोकात् पतिंयती: । अव दीक्षामसृक्षत स्वाहा ।। १४,२,५२ कौशिक (७५,२४) के मत में इस मंत्र का उस समय उच्चारण करना चाहिये जब वधू अग्नि में समिधा डालती है।

४- १४,२,५३-५७ इन सात मंत्रो का प्रयोग कर (कौशिक (७५, २५) में कन्या के लिये उष्ण जल तैयार किया जाता था और मंत्र १४,२,६५ से स्नान कराया जाता था।

५- यदासन्द्यामुपधाने यद्वोपवासने कृतम् ।
विवाहे कृत्यां यां चक्रुरास्नाने तां निदध्मसि ।।
१४,२,६५

६- यद दुष्कृतं ... कश्मलं मज्महे दुरितं वयम ।।१०,२ ६६

शुद्ध हो जाते थे ।[1]

पाणिग्रहण :- वर्तमान हिन्दू विवाह की भांति अथर्ववैदिक काल में भी पाणिग्रहण विधि का प्रयोग होता था । 'जिस प्रकार अग्नि ने भूमि का दाहिना हाथ पकड़ा था, उसी प्रकार मैं तुम्हारा हाथ ग्रहण करता हूं, तुम मेरे साथ रहते हुये सन्तति और धन से व्यथित न होवो'।[2] अग्नि से प्रार्थना की जाती थी कि पत्नी सौभाग्यवती और पति के लिये अधिक दिन जीने वाली हो[3], वधू का हाथ पकड़ कर वर कहता था कि "सौभाग्य के लिये मैं पति बन कर तुम्हारा हाथ पकड़ता हूँ जिससे तुम दीर्घायु होवो । भग अर्यमा और पुंधि तुमको मुझे गृहपत्नी बनने के लिये दिया है ।[4] तुम मेरी पत्नी हो मैं तेरा धर्म से तुम्हारा पति हूं।"[5] पाणिग्रहण का महत्त्व वर को विदित था इसलिये वह अपने को वैधानिक (धर्म से) पति घोषित करता है ।

१- अमूम यज्ञिया: शुद्धा: प्रण आयंषि तारिषत् ।
१४,२,६७

२- येनाविरस्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम् ।
तेन गृहणामि ते हस्तं मा व्यतिष्ठा मया सह
प्रजाया च धनेन च ।। १४,१,४८
कौ०सू० ७६,१६ के मत में इसका प्रयोग करते हुये वर वधू के हाथ को गृहण कर अग्नि परिक्रमा के लिये उद्यत होता था ।

३- अग्नि: सुभगां जातवेदा: पत्ये पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु
१४,१,४९

४- गृहणामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथास: । भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवा: ।। १४,२,५०

५- पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ।। १४,१,५१

अश्मारोहण :- संहिता में पहले अश्मारोहण का मंत्र आया है तत्पश्चात् पाणिग्रहण का । परन्तु पाणिग्रहण के पश्चात् ही अश्मारोहण विधि सम्पन्न होती थी ।[1] मैं तुम्हारे लिये सन्तति के लिये मंगलकारी और दृढ़ (ध्रुव) पत्थर (श्मान) को पृथिवी पर रखता हूँ । उस पर तुम चढ़ो और सविता तुम्हारी दीर्घायु करें ।[2] इस अवसर पर नारी अन्न बिखेरती हुई कहती थी कि मेरा पति सौ वर्ष तक जीवे ।[3]

पति पत्नी को कमर में कोई आभूषण या मंत्र सिद्ध सूत्र पहनाता था । वह कहता था, अच्छी सन्तान की कामना के लिये, सौभाग्य के लिये, धन और पति के अनुकूल होने के लिये इसे बाँधो जिससे तुम दीर्घायु होवो ।[4] इस मंत्र के साथ ही अन्य मंत्र का भी प्रयोग कौशिक[5] ने मेखला बन्धन के अर्थ में प्रयुक्त किया है । दूसरे मंत्र में कथन है कि हे पत्नी, तुम्हे पृथिवी के दूध से बाँधता

१- कौशिक ने मंत्र १४,१,५१ को जो पाणिग्रहण संबंधी है, वर्णन क्रम में पहले रखते हैं (७६,१०) और तब अश्मारोहण मंत्र १४,१,४७ का उल्लेख करते हैं (७७,१७)

२- स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेश्मानं देव्या: पृथिव्या उपस्थे । तमा तिष्ठानुमाद्या सुवर्चा दीर्घं त आयु: सविता कृणोतु ।। १४,१,४७

३- इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका । दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरद: शतम् ।।१४,२,६३

३- कौशिक (७६,१७) का कथन है कि नारी दृढ़ता से पत्थर पर खड़ी होती हुई लावा (पूल्यानि) को बिखेरती हुई यह मंत्र कहती थी । यहाँ पूल्यानि(अन्न) का अर्थ लावा है तो तत्कालीन लाजाहुति पर प्रकाश पड़ता है ।

४- आशासानासौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् । पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम् ।। १४,१,४२

५- कौ० सू० ७६,७

हूँ, तुमको ओषधियों के रस से बाँधता हूँ और मैं तुम्हें संतति, धन आदि से युक्त करता हूँ।[१]

वर के घर के लिये प्रस्थान :- विवाह संस्कार संपन्न होने पर वधू पितृगृह को छोड़ कर पति के घर जाती हुई प्रदर्शित की गई है। ये कन्यायें पिता के घर से पति के पास जाने को तैयार हैं।[२] जब वह पिता का घर छोड़ने को उद्यत होती थी तो निम्नलिखित आशीर्वचनों का उच्चारण किया जाता था। "पत्नियों तथा कृपालु सुहृदों को प्राप्त कराने वाले अर्यमा की हम प्रार्थना और अर्चना करते हैं। जिस प्रकार डंठल से फल पृथक किया जाता है उसी प्रकार मैं तुम्हें यहां (पितृगृह) से मुक्त करता हूँ पतिगृह से नहीं।[३] मैं यहां से भग तेरा हाथ पकड़ कर मार्ग प्रदर्शित करे। अश्विनी कुमार तुम्हें रथ से ले जायें, तुम वश में करने वाली हो। अत: विदथ (परिषद्) में बोलने के लिये और गृहपत्नी बनने के लिये पति के घर जाओ।"[४] उसके प्रस्थान पर सम्भवत: उसके

१- सं त्वा नह्यामि पयसा पृथिव्या: सं त्वा नह्यामि पयोषधीनाम्।
सं त्वा नह्यामि प्रजया धनेन ।। १४,२,७०

२- उषति कन्यला इमा: पितृलोकात् पतिं यती:।१४,२,५२

३- अर्यमणं यजा महे सुबन्धुं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चामि नामुत: ।।१४,१,१७
द्रष्टव्य मंत्र १४,१,१८-१९ भी

४- भगस्त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ।। १४,१,२१

घर वाले आँसू गिराते थे ।[1] विदाई के समय कहा जाता था कि 'जिस मार्ग से मित्रों सहित वर जाता है वह मार्ग निष्कन्टक और सुगम हो ।[2] जिस पथ से दंपति जाते हैं वह कष्टकारी न हो, वे सुगमता से जाएँ और दुष्ट लोग उस रास्ते से भाग जाएँ ।'[3] वधू सुन्दर वस्त्र तथा उत्तरीय धारण कर नेत्रों को अंजन-रंजित कर तथा ओपस और कुरीर पद्धति से शिरोवेष्टन धारण कर अपनी सखियों के साथ ढके रथ में अभीष्ठ पति के घर प्रस्थान करती थी ।[4] वधू रूप सूर्या पुष्पों से सज्जित विभिन्न रूप वाले तथा पीले रंग के वस्त्र से ढके हुये सुन्दर पहिये वाले रथ में चढ़ कर पति के वहाँ गई थी ।[5]

वधू का पति के गृह में प्रवेश :- वधू पति के घर पहुँचती थी तो वहाँ भी सुन्दर दृश्य उपस्थित हो जाता था । उसे यह कह कर गृह में प्रवेश कराया जाता था, 'तुम शुभकारिणी हो, वृद्धि धारण करने वाली (प्रतरणी) हो, तुम श्वसर, पति और सास के लिये शुभ बनो, इस घर में प्रविष्ट हो ।'[6] इसके पश्चात् वधू को देखा जाता था । वहाँ पर एकत्र हुई युवतियाँ और वृद्ध स्त्रियाँ उसके सौभाग्य की कामना करती थीं और उसके पश्चात् घर चली जाती थीं ।[7]

१- जीवं रुदन्ति १४,१,४६ परन्तु यह मंत्र अस्पष्ट है ।

२- अनृक्षरा ऋजव: सन्तु पन्थानो येभि: सखायो यन्ति नो वरेयम् । १४,१,३४

३- मा विदन् परि पन्थिनो य आसीदन्ति दंम्पती ।
सुगेन दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातय: ।। १४,२,११ उक्त दो मंत्रों को कौशिक (७७,३) वधू के रथ चलने के समय पर प्रयुक्त ~~किया है~~ करते हैं । इसके साथ ही इसी प्रकार का वर्णन १४,२,७४ में भी है ।

४- १४,१,६-१३

५- सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम् ।। १४,१,६१

६- सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वसुराय शंभू: ।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ।। १४,२,२६

७- सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतन ।। १४,२,२८

गार्हपत्य अग्नि की पूजा :- ~~विवाह~~ इस अवसर पर वर-वधू द्वारा गार्हपत्य अग्नि की सपर्या की जाती थी। यह गृहस्थ जीवन के प्रारम्भ का द्योतक थी। वधू अग्नि की पूजा कर पितरों और सरस्वती (नदी) की पूजा करती थी।[१] वह वृष चर्म, जिस पर बुल्बुज घास बिछा रहता था, बैठकर अग्नि की पूजा करती थी।[२]

शैय्या रोहण :- गार्हपत्य अग्नि की पूजा के पश्चात् पति पत्नी शैय्यारोहण करते थे। इस कार्य को चतुर्थिका कर्म कहा जाता था।[३] जिसका वर्णन गर्भाधान संस्कार के प्रसंग में कर दिया गया है।

पितरों की विदाई :- इस संस्कार के अन्त में पितरों को विदाई की जाती थी और सभी अपने अपने घर जाते थे। इस प्रकार यह समारोह समाप्त होता था।[४]

(१०) अन्त्येष्टिसंस्कार

अथर्ववेद में अन्त्येष्टि संस्कार अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप में वर्णित है। इस पर पूरा काण्ड ही दिया गया है। इसके अनुसार शव को घर से निकाल कर गाँव के

१- यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम्।
अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु॥ १४,२,२०

२- उप स्तृणीहि बल्बजमधि चर्मणि रोहिते।
तत्रोपविश्य सुप्रजा इममग्निं सपर्यतु॥ १४,२,२३

३- अथर्ववेद संहिता, शंकर पण्डित, भाग ३, पृ० २६२, बम्बई संस्करण।

४- येदं पूर्वागन् रशनायमाना प्रजामस्यै द्रविणं चेह दत्वा।
तां वहन्त्वगतस्यानु पन्थां विराडियं सुप्रजा अत्यजैषीत्॥
१४,२,७४

बाहर ले जाया जाता था ।[1] इस प्रयोजन के लिये विनियोज्य मंत्र में कहा गया है, तुम्हारे जीवन के वहन के लिये मैं इन दो (बैलों) को जोतता हूँ, जिससे तुम यमलोक को जा सको, जहाँ पुण्यकर्मा लोग जाते हैं ।[2] मृतक का पैर कुलला से बाँध दिया जाता था ।[3] जिससे वह भाग न जाए ।[4] मृतक के साथ बाल बिखराए हुये रूदन करती हुई स्त्रियाँ जाती थी[4] तथा उसके दाह के पश्चात् अस्त व्यस्त केशों वाली स्त्रियाँ दोनों हाथों से छाती पीट पीट कर चिल्लाती हुई नृत्य करती थीं ।[5]

पत्नी का चिता पेर लेटना :- मृतक की पत्नी प्राचीन परम्पराओं (धर्म पुराणम्) का पालन करती हुई उसके काल में चिता पर लेटती थीं ।[6] परन्तु यह प्रथा केवल औपचारिक मात्र रह गई थी । क्योंकि दूसरे मंत्र से स्पष्ट होता है कि वह अपने प्रियजनों द्वारा चिता पर से पुर्नविवाहित जीवन बिताने के लिये उठा ली जाती

१- अपेम जीवा अरूधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परिग्रामादितः ।
१८,२,२७

२- इमौ युनज्मि ते वह्नि असुनीताय वोढवे ।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितिश्चाव गच्छतात् ।।१८,२,५६

३- यां मृतायामनुबध्नन्ति कूद्यं पादयोपनीयम् । ५,१६,१२

४-मा त्वा व्यस्त केश्यो मा त्वाघरूदो रूदन् ।८,१,१६

५- क्षिप्रं वै तस्या दहनं परिनृत्यन्ति केशिनी राघ्नाना:+
पाणिनोरसि कुर्वाणा: पापमैलबम् ।। १२,५,४८

६- इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् ।। १८,३,१
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि।
वही १८, ३, १

थीं । "हे नारी, उठो, इस जीवलोक में आओ, तुम

निष्प्राण व्यक्ति के साथ सोयी हो, इसे छोड़ दो । तुम्हारा हाथ पकड़ने वाला यह तुम्हारा पति है, (दधिषु:) तुम अब पति-पत्नी के सम्बन्ध से युक्त हो ।[१] मैंने मृतक के लिये जीवित लेटी हुई पत्नी को देखा, मानो वह गहरे अंधकार से आवृत थी तब मैंने उसे बाहर निकाला[२]। इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि पत्नी का पति के चिता पर लेटना केवल परम्परा का पालन मात्र था । स्त्रियाँ पति के मरने पर देवर इत्यादि से दूसरा विवाह कर लेती थीं । दूसरा पति वरण करने का अन्यत्र भी स्पष्ट उल्लेख है ।[३] अगले मंत्र[४]में कथन है कि, यह गोपति तुम्हारा है इससे तुम प्रेम करो । इससे प्रतीत होता है कि चिता पर लेटी हुई स्त्री गृहमनि गोपति के घर की थी । और गोपतियों में विधवा विवाह का प्रचलन रहा होगा ।

<u>मृतक के लिये पाथेय</u> :- मृतक को नहला कर वस्त्र पहनाया जाता था ।[५] इसके पश्चात् उसके हाथ में आने वाले संकटों से सुरक्षा के लिये दण्ड और धनुष दिया

१- उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकम् गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दीधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि संबभूथ ।।
१८,३,२
द्रष्टव्य व्हिट्ने का अथर्ववेद का अनु०, पृ० ८४८ भी ।

२- अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवा मृतेभ्य: परिणीयमानाम् ।
अन्धेन यत तमसा प्रवृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ।। १८,३,३

३- या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दते परम् ।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वियोजत ।। ६,५,२७

४- अयंम् ते गोपति: तम तं युषास्व । १८,३,४

५- एतत् त्वा वास: प्रथमं न्वागन् । १८,२,५७

जाता था। परन्तु पुन: उसे ले लिया जाता था।[1] चिता के पास बकरे की बलि भी दी जाती थी और अग्निदेव से प्रार्थना की जाती थी "हे अग्नि तुम्हारी ज्वाला का भाग यह बकरा है, उसे तुम जलाओ.... इस प्रकार इसे पुण्य लोक में ले जाओ।"[2]

चिता पर अग्नियों का आवाहन :- चिता को जलाने के लिये अग्नि का आवाहन किया जाता था और प्रार्थना की जाती थी कि "हे अग्नि, इस मृतक को आगे, पीछे सब ओर से सम्यक् रूप से जलाकर अच्छे लोक में ले जाओ"।[3] मृतक के प्रत्येक अंग को जला कर चिता की अग्नियाँ उसे पवित्र कर देती थी जिससे उसके शरीर का प्रत्येक अवयव यत्रतत्र मिल जाए। "मृतक की आँखें सूर्य में मिल जाती थी तथा आत्मा वायु मे, अच्छे कर्मों से (धर्मभि:) वह पृथिवी लोक और स्वर्गलोक दोनों मे व्याप्त हो जाता था। यदि तुम्हारे शरीर का कल्याण हो तो वह औषधियों में या पवित्र जल में जाए"।[4] उल्लेखनीय है कि आत्मा को वायु

१- दण्डं हस्तादाददानो... १८,२,५६, धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य। १८,२,६०

२- अजो भागस्तपस्तं तपस्व तं ते... ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्। १८,२,८

३- शमग्ने पश्चात् तप शं पुरस्ताच्छमुत्तरा शमधरात् तपैनम्। एकस्त्रेधा विहितो जातवेद: सम्यगेनं धेहि सुकृतामु लोके।। १८,४,११

४- सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभि:।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरै:।। १८,२,७

से समीकृत किया गया है । अन्यत्र भी वायु को प्राण कहा गया है ।[1] इस प्रकार दाहक्रिया सर्वश्रेष्ठ समझी जाती थी, जिसमें मृतक के सभी अंग भस्म होकर पंचतत्वों में मिल जाते थे ।

दाह के पश्चात् श्मशान भूमि पर उपस्थित लोगों के कुशल क्षेम की कामना की जाती थी । यह प्रार्थना की जाती थी कि प्रेत कुल की नारियाँ वैधव्य रहित हों तथा सर्पिष् और अंजन से युक्त रहे, ये अश्रुरहित, रोगरहित और आभूषणों से युक्त हों तथा अच्छी सन्तानों को देने वाली हों ।[2] मृतक को अन्तिम विदा दी जाती थी । उसको संबोधित करके कहा जाता था, कि 'अपने संयम और सुकृत्यों (इष्टापूर्ति) से संवलित हो पितरों के साथ स्वर्गलोक में जाओ'।[3] स्वर्गलोक के शासक स्वराट् से प्रार्थना की जाती थी कि जो हमारे पिता और पितामह पितरों के रूप में स्वर्गवासी हैं, स्वराट् उनके शरीर को यथेष्ठ रूप में बनावें[4]। इस प्रकार मृतक की सुख सुविधा के लिये यह अन्त्येष्टि संस्कार किया जाता था ।

अथर्ववेद संहिता में स्पष्ट रूप से दाह मात्र का उल्लेख है । परन्तु उसके कुछ सन्दिग्ध मंत्रों को कालान्तर में कौशिक[5] ने अस्थि अवशेषों को कलश में रख कर गाड़ने के लिये प्रयुक्त बताया है ।

१- वायु: प्राणाभूत्वा नासिके प्राविशत् । ए०आ० २,४२

२- इमा नारीरविधवा सुपत्नीरा जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् ।
अनश्रवो अनमीवा सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ।
१८,३,५७

३- सं गच्छस्व पितृभि: सं यमेनेष्टा पूर्तेन परमेव्योमन् ।
१८,३,५८

४- ये न: पितु: पितरो...तेभ्य: स्वराडसुनीतिनो अद्य यथावशं तन्वं कल्पयाति । १८,३,५९

पितरों के लोकोपर जीवन यापन के लिये स्वधा दी जाती थी । क्षत्रिय लोग अपने पितरों को स्वधा देते हुए प्रदर्शित हैं ।[१] पितृगण अग्नि में हवन किये हुये द्रव्य को खाने वाले हैं । अत: 'हविष्पा' उनकी संज्ञा है ।[२] वर्तमान समय में गया में गंगा के किनारे पितरों को पिण्डदान दिया जाता है जो उन्हे प्राप्त होता है । अथर्वन् काल में यह कर्मकाण्ड सरस्वती नदी के तट पर होता था । सरस्वती नदी को देवों का मुख कहा गया है जो लोग उसे घृत का हव्य प्रदान करते थे वह पितरों को मिलता था ।[३] उन लोगों का विश्वास था कि पितरों को श्रद्धापूर्वक पंचौदन देने से पितरों के मार्ग में निहित अन्धकार दूर हो जाता है ।[४] पितरों का मार्ग कठिन था । वहाँ पहुंचने में उन्हे आधा महीना (अधा मासि) यानी १५ दिन लग जाते थे ।[५] इस

१- स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्य: ।
दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति ।। १२,४,३२

२- १८,३,४८

३- इदं ते हव्यं घृतवत सरस्वतीदं पितृणां हविरास्यत् ।
६,६८,२
सरस्वती नदी का वर्णन इसके शीघ्र ही बाद में है ।
देखिए सरस्वतीं पितरो हवन्ते १८,१,४२

४- एतत् वो ज्योति: पितरस्तृतीयं प चौदनं ब्रह्मणेजं ददाति ।
अजस्तमास्यपहन्ति दूरस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्त ।।६,५,११

५- आ यात: पितर: सोम्यासो गम्भीरै: पथिभि:पूर्याणै: ।
अधामासि पुनरा यात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजस: सुवीरा:।।
१८,४,६३

प्रसंग में आधुनिक श्राद्ध प्रथा के अनुकूल प्रकाश नहीं पड़ता। हिन्दू समाज में चौदहवें और सोलहवें दिन श्राद्ध होता है। परन्तु उपर्युक्त पन्द्रह दिन का आशय स्पष्ट नहीं है। फिर भी उन लोगों का पितरों की प्रति वही श्रद्धा वर्तमान थी जो आज है। उनके लोकोत्तर जीवन के लिये पिण्डदान और स्वधा दान दिया जाता था। धान (अन्न) में तिल मिला कर स्वधा बनती थी।[१] स्वधा से पितर लोग मुदित होते थे।[२] ये वस्तुएँ अग्नि में दी जाती थीं।[३]

पितृलोक :- पितरों के लोक को पितृलोक कहा ~~गया है~~ गया है।[४] वहाँ का राजा यम है।[५] पितृगण स्वधा देने से स्वर्ग (दिव्) के मध्य में प्रसन्न होते थे।[६] यह स्वर्ग आकाश (परमे व्योमन्)[६] और अंतरिक्ष[७] में था। मैक्समूलर महोदय ने पितर, पितामह और प्रपितामह के लिये पृथक पृथक तीन लोकों का निर्देश किया है।[८] परन्तु अथर्ववेद

१- यास्ते धाना अनुकिरामि तिल मिश्रा: स्वधावती:।
१८,३,६९

२- मध्ये दिवे स्वधया मादयन्ते। १८,२,३५

३- स्वस्तिानग्न आ वह पितृन हविषो अत्वे। १८,२,३४

४- पितृलोकं गमय जातवेदा:। साङ्गा: स्वर्गं पितरो मादयध्वम्।। १८,४,६४

५- ते तत्र यम: सादना ते कृणोतु। १८,३,५२

६- १८,३,५८

७- ये न: पितु: पितरो ये पितामहा य ~~अन्तरिक्षमुरु-वैरन्तरि-~~ रि आविविशुरुर्वंरन्तरिक्षम्। १८,२,४४

८- मैक्समूलर, इंडिया, ह्वाट कैन इट टीच अस, पृ०२२३

में एक स्थान पर पिता, पितामह, और प्रपितामह सबको अन्तरिक्षवासी कहा गया है ।[1] देवों के पिता और पुत्र स्वर्ग में साथ रहते थे ।[2] पितृलोक और स्वर्गलोक एक ही कहे गये हैं, जिसे पितरों ने मर्त्यों के लिये बनाया ।[3] पितरों के मार्ग का नाम पितृयान था । जिससे सुकर्मा लोग जाते थे । पितरों को देवता ही कहा गया है।[4] दोनों द्युतिमान है ।[5]

स्वर्गलोक :- यह अच्छे लोगों का लोक था ।[6] इसे उच्चतम[7] प्रकाशमान लोक[8], अन्तरिक्ष का पृष्ठ[9] तृतीय अन्तरिक्ष[10] और तृतीय आकाश[11] कहा गया है । तृतीय स्वर्ग में एक अश्वत्थ वृक्ष की कल्पना की गई है, जिसे देवों का घर कहा गया है ।[12] स्वर्ग में पहुंच कर मृत व्यक्ति माता, पिता और पुत्रों को देखते हैं ।[13] और अपनी पत्नियाँ तथा सन्तान से मिल जाते हैं ।[14] यहाँ का जीवन अपूर्णताओं और शारीरिक कष्टों, से सर्वथा मुक्त समझा जाता था ।[15] व्याधियाँ पीछे छूट जाती थी और हाथ पैर लूले या लंगड़े नहीं होते थे ।[16] स्वर्ग में

१- वही १८,२,४४

२- १,३०,२

३- एवं पितरो लोकमक्रन् । १८,१,५५

४- देवा:पितर: पितरो देवा: । ६,१२३,३

५- १८,२,५७

६- सुकृतस्य लोकम्

७- ११,४,११

८- ४,३४,२

९- १८,२,४७

१०- ९,५,१ और ८

११- १८,२,४८

१२- ५,४,३

१३- ६,१२०,३

१४- १२,३,१७

१५- ६,१२०,३

१६- ३,२८,५

ऐन्द्रिय सुख के पर्याप्त साधन वर्तमान समझे जाते थे ।[1] वहाँ घृत से भरे सरोवर तथा दुग्ध, मधु और मदिरा की नदियाँ बहती थीं ।[2] वहाँ उज्ज्वल विविध रंगों वाली गायें थीं । जो सभी कामनाओं को पूर्ण करती थीं[3] । वहाँ न तो विधन है और न तो धनवान्, न शक्तिशाली और न शोषित ।[4]

नरक लोक :- अथर्ववेद यम के लोक[5] के विपरीत नारक लोक राक्षसियों और अभिचारकों के आवास तथा एक अधो-गृह के रूप में चर्चा करता है । इसे अथर्ववेद में अनेक बार अधम अंधकार[7] और अन्ध अन्धकार[8] कहा गया है तथा काला अन्धकार[9] भी एक अन्यत्र स्थान में कहा गया है । नारकीय यातनाओं का भी वर्णन किया गया है ।[10]

१- नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदा: स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् । ४,३४,२

२- ४,३४,५-६

३- ४,३४,८

४- ३,२६,३

५- १२,४,२६

६- रौथ, ज० आफ अमेरिकन ओ० सो० ३,३४५

७- ८,२,२४

८- १८,३,३

९- ५,३०,११

१०- ५,१६,

पितरों का महत्त्व :- अथर्वकालीन समाज पितरों को देवों के तुल्य मानता था । उनकी समाज में बड़ी प्रतिष्ठा थी । पितृगण मनुष्य के प्रत्येक कार्य की देखभाल करते हुये प्रदर्शित किये गये हैं । उनसे अपने किये गये पापों की शान्ति के लिये क्षमा माँगी जाती थी । यदि माता, पिता, भ्राता और पुत्र कोई अशुभ कार्य करता है, उसके प्रति हमारे सभी पितृगणों का क्रोध (मन्यु) शान्त हो ।[१] मनुष्य जो भोजन करता है और हवन करता है वह पितरों का दिया है ।[२] इस प्रकार मनुष्यों का जीवन पितरों पर निर्भर समझा जाता था । सायण के मत में मनुष्य पुत्रपौत्रादि की उत्पत्ति के लिये पितरों का ऋणी होता था ।[३] पिण्डदान देने से पितर लोग प्रसन्न होते थे तथा औषधि उनकी कृपासे क्लेशों को दूर करती थी ।[४] यज्ञ यज्ञादि और सुकृत्यों (इष्टापूर्त) से पितरों की रक्षा समझी जाती थी ।[५] पितरों की दिशा दक्षिण दिशा, (जो अब भी मानी जाती है) मानी जाती थी और उस समय भी कहा जाता था कि दक्षिण दिशा में पितरों के गण हमारे रक्षा करते हैं ।[६] उपर्युक्त विवरणों से वैदिक आर्यों की पितरों के प्रति श्रद्धा और भक्ति का पर्याप्त परिचय मिलता है । मनुष्य की भावनायें और विश्वास ही तो उसकी सभ्यता के स्तर के द्योतक होते हैं ।

१- यदिदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राश्चेतसः ...तेषां सर्वेषां शिवो सन्तु मन्युः ।। ६,११६,३

२- यन्माहुतमहुतं मा जगाम दत्तं पितृभिः । ६,७१,२

३- मंत्र ६,१२२,२ पर सायण भाष्य, द्रष्टव्य

४- यत् पितृभ्यो ददतो...सर्वस्मात् पापादिमा मु चन्त्वोषधीः । १०,१,११

५- इष्टापूर्तमवतु पितृणाम् । २,१२,४

६- दक्षिण दिग्...रक्षिता पितर इषवः । ३,२७,२

७- विस्तार के लिये द्रष्टव्य, ज० आफ अमेरीकन ओ०सो०, भाग १३, पृ० ४ (भूमिका) ।

चतुर्थ अध्याय

आर्थिक जीवन

१. अर्थ के साधन

(१) आखेट :- अथर्ववैदिक काल के लोग पर्यटन की स्थिति को छोड़ चुके थे और व्यवस्थित तथा स्थायी जीवन व्यतीत कर रहे थे।आखेट के विषय में कोई विशेष सामग्री प्राप्त नहीं होती और जो मिलती भी है उससे प्रतीत होता है कि आखेट उनकी जीविका का महत्वपूर्ण अंग नहीं था । एक मंत्र में मृग, सिंह, व्याघ्र, श्रृगाल (उल), भेड़िया और रूदा आदि का उल्लेख है ।[१] इससे प्रतीत होता है कि उन्हें आखेटक पशुओं का ज्ञान था । एक दूसरे मंत्र में हिरण के अजिन (काला चर्म) का उल्लेख है[२] जो हिरण के आखेट की ओर संकेत करता है । परन्तु सामग्री के अभाव में आखेट के उद्देश्य के विषय में कुछ भी कहना कठिन है ।

(२) कृषि :- अथर्ववैदिक व्यक्ति की जीविका का प्रधान साधन कृषि था । तत्कालीन व्यक्ति पुरोहित और शासक के अतिरिक्त प्रौढ़ कृषक था । कृषि से उत्पन्न अन्न द्वारा ही उसका जीवन निर्वाह होता था ।[३] अन्न तेज प्रदान करने वाला था इसलिये

१- ये त आरण्या: पशवो मृगा वने हिता: सिंहा
व्याघ्रा: पुरुषादश्चरन्ति ।
उलं वृकं पृथिवी दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो
अपबाधयास्मत् । १२,१,४९

२- हरिणस्याजिनेन च । ५,२१,७

३- ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या उप जीवन्ति ।।८,१०,२४

शत्रुओं को अपने पराक्रम से परास्त करने के लिये कृषि कार्य आवश्यक था ।[1] इस कारण उसने कृषि को अत्याधिक महत्त्व दिया था । जुये में पराजित द्यूतकर को आदेश दिया गया है कि वह जुआ खेलना छोड़कर कृषि कर्म करे ।[2] कृषि पर राजा का भी ध्यान होता था ।[3]

(क) कृषि की उत्पत्ति :- तत्कालीन लोगों का ऐसा विश्वास था कि सर्वप्रथम कृषि का आरम्भ पृथी ~~पृथिवी~~ वैन्य ने किया था ।[4] इस सम्बन्ध में प्राप्त आख्यान से विदित होता है कि जब विराज् शक्ति गाय के रूप में मनुष्य लोक में पहुँची तो वेनु के पुत्र पृथी ने पृथिवी पर उससे कृषि और अन्न दुहा । वेनु-पुत्र पृथी या पृथु का वर्णन पुराणों में विस्तार के साथ मिलता है जहाँ उसकी सेवाओं का मार्मिक वर्णन है । ये ही प्रथम राजा थे जिन्होंने कृषि कर्म के अयोग्य पथरीली भूमि को समतल कर कृषि के उपयुक्त बनाया जिसके कारण भूमि का ही नाम उसके नाम पृथी पर पृथ्वी रखा गया ।[5]

१- विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा कृषिसंशितोऽन्नतेजाः।
कृषि मनु वि क्रमेऽहं कृष्यास्तं भिजामो यो स्मान् द्वेष्टि ।। १०,५,३४

२- अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व । ऋग्वेद १०,३४,७

३- अध नो रामा नि कृषिं तनोतु । ३,१२,४

४- सोदक्रामत् सा मनुष्यानागच्छत् ।
तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम् ।।
तां पृथी वैन्यो धोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ।।
अन्नं वै विराट् । तै० ब्रा० ३,८,१०,४ ८,१०,२४

५- द्रष्टव्य श्री मद्भागवत्, स्कंध ४, अध्याय १६-२३

(ख) कृषि के लिये भूमि :- भूमि कृषि के लिये उपयुक्त थी ।[1] उस पर जौ और चावल आदि अन्न उत्पन्न किये जाते थे । मिट्टी भूरी, काली और विभिन्न रंगों की थी ।[2] कृषि के क्षेत्र कहीं ऊँचे, कहीं नीचे और कहीं समतल थे ।[3] पुन: कृषि के उपयुक्त दो प्रकार की भूमि थी । अप्नस्वती और उर्वरा । अप्नस्वती अधिक उर्वर भूमि को कहा जाता था ।[4] बीज को शीघ्रता से बढ़ाने वाली भूमि को उर्वरा कहा जाता था ।[5] धरती बहुत सी निधियों और धन धान्य से पूर्ण थी ।[6]

(ग) कृषि के उपकरण :- वर्तमान काल के सामान्य कृषक की भाँति अथर्ववैदिक कृषक भी हल और बैलों के सहारे खेती करते थे । उस काल में कृषि के प्रत्येक उपकरण का विशिष्ट नाम था जिनका परिचय इस प्रकार है :-

कीनाश: - हलवाहों या खेती करने वालों को कीनाश या सीरपति कहा जाता था ।[7] हलवाहक(कीनाश

१- यस्यामन्नं कृष्टय: संबभूवु । १२,१,३-४

२- बभ्रु कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् । १२,१,११

३- यस्या उद्वत: प्रवत: समं बहु । १२,१,२

४- अप्नस्वती ममधीरस्तु २०,८६,३ अप्नस्वतीषूर्वरा । ऋग्वेद १,१२७,६

५- यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति ।१०,६,३३ अन्यत्र मनुष्य के बीज (वीर्य) को ग्रहण करने वाली स्त्री का विशेषण उर्वरा है । आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम् ।१४

६- निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे । १२,१,४४

~~७- तस्मै हिरण्यवक्त्र स्त नरे भूमिर्वि सुवर्ण मनस मुन~~

७- इन्द्र आसीत् सीरपति: शतक्रतु: कीनाशा आसन् । ६,३०,१

एक स्थान पर बैल (अनड्वान) के साथ मीठे पेय (कीलाल) कृषक प्राप्त करने के लिये जाते हुआ घोतित है ।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि हल चलाने की थकावट दूर करने के लिये उसे मीठा पेय दिया जाता था । अन्यत्र कथन है कि हलवाहा सुगमता से जुते हुये (बैलों) का पीछा करे ।[२]

सीर :- यह हल का वाचक है । कृषकों के पास छः और आठ हलों की खेती थी ।[३] हल बहुत बड़े बड़े होते थे । जिनमें छः और आठ बैल जोते जाते थे । एक मंत्र में इसी प्रकार के हलों द्वारा उत्पन्न जौ का वर्णन है ।[४] इन बैलों को जुआठा (युवा) से सन्नद्ध कर दिया जाता था । हल में एक लम्बा मोटा बांस बांधा जाता था, जिसके ऊपर जूआ (युग) रखा जाता था , जिसमें रस्सियों (वरत्रा) से बैलों का गला बांधा जाता था ।[५] हल का अन्य प्रसिद्ध नाम लांगल था[६] जिसका अगला भाग नुकीला (पवीरवत) होता था । हल आर्यों का पवित्र उपकरण था ।

१- श्रमेणानड्वान् कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छत: ।।
४,११,१०

२- शुनं कीनाशा अनुयन्तु वाहान् । ३,१७,५

३- षाड् योगं सीरमनु । ८,६,१६

४- इमं यवमष्टायोगै षाड्योगैभिरचर्कृषु: ।
तेना ते तन्वोरयो पाचीनमपव्ययै ।। ६,९१,१

५- युनक्तु सीरा वियुगा ३,१७,२ नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्य: । २,८,४

६- शुनं वरत्रा बध्यन्तां ।। ३,१७,६ आन्त्राणि जत्रो गुदा वरत्रा: । ११,३,१०

इसीलिये उन्होंने शुना और सीर कृषि के दो देवताओं के रूप में उनकी हविस् आदि के द्वारा पूजा करते थे।[1] यास्क शुना को वायु और सीर को आदित्य से समीकृत करते हैं[2] तथा सायण सीर को लांगल का अभिमानी देव मानते हैं।[3]

फाल :- हल के अगले भाग को फाल कहा जाता था। यह कहना कठिन है कि फाल धातु का बना था या नहीं। प्रो० ब्लूमफील्ड का कथन है कि पवीर (नोक) शायद धातु का बना होता था।[4] ~~यह-मत-स्वीकार---किया-जा सकता-है-।~~[4] जो कुछ भी हो ऐसा प्रतीत होता है कि यह खदिर की लकड़ी का बनता था।[5] व्हिट्नी महोदय हल को ही नुकीला (पवीरवत्) मानते हैं।[6] अत: हल के

१- शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्ला ओषधी: कर्तमस्मै ।। ३,१७,५

२- मंत्र ३,१७,५ पर सायण 'सीरो लाङ्गलाभिमानी देव:' द्रष्टव्य वै० इं० भाग २, पृ० ४२८ (हिन्दी)

३- ब्लूमफील्ड, सैं०बु० आफ द ईस्ट, भाग ४२, पृ० ६०६ लाङ्गलं पवीरवत् ३,१७,३

४- 'शुनो वायु: सीर आदित्य:', यास्क निरुक्त ६,४०

५- व्हिट्नी, अथर्ववेद संहिता का अनुवाद, पृ० ११५ ।

६- दारिल, अथर्ववेद के सूत्रकार कौशिक (३५,४) पर टीका करते हुये कहते हैं कि फाल के एक भाग को फाल किलुक कहा जाता था। इससे ब्लूमफील्ड महोदय निष्कर्ष निकालते हैं कि फालकिलुक अवश्य ही लकड़ी का बना होगा। सैं० बु०आफ द ई०, भाग ४२, पृ० ६०६

अग्रभाग का नाम फाल था । खदिर (खैरा) को शतपथ ब्राह्मण में कठोर (दारूण) कहा गया है तथा उसकी तुलना शरीर की हड्डियों से की गई है ।[1] अतः सम्भव है कि खदिर के बने हल की नोक धरती को जोतने में समर्थ थी । हल में शुनासीर (वायु आदित्य) देवों का वास था । अतः फाल का भी धार्मिक महत्त्व बतलाया गया है । खदिर से बनी फाल भी मंत्रसिद्ध मणि कृषि की रक्षा करने वाली[2] तथा शत्रुओं का नाश करने वाली होती थी ।[3] इसी प्रकार वह पशु, संतान, धान और अन्न को प्रदान करने वाली थी ।[4] यह फाल सुन्दर होता था तथा सफलता पूर्वक धरती की जुताई करता था ।[5] हल की मुठिया (त्सरू) चिकनी होती थी ।[6]

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि अथर्ववैदिक कालीन हल खदिर का बना होता था । भारत के कुछ स्थानों में वर्तमान समय में भी खैरा (खदिर) का हल बनता है ।

१- अस्थिभ्य एवास्य खदिरः समभवत् ।
तस्मात्स दारुणो बहुसारो दारुणमिव ह्यस्थि ।।
शतपथ ब्रा० १३,४,४,६

२- तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः ।।१०,६,१२

३- यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतं खदिरमोजसे ।
...तेन त्वं द्विषतो जहि । १०,६,६

४- गोभिरजाभिरन्नेन प्रजया सह । १७,६,२३,२४

५- शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं । ३,१७,५

६- सुसमस्त्सरू सोमसत्सरू ३,१७,३

अष्ट्रा :- हलवाहा अष्ट्रा (पैनT) से बैलों को हाँकता था ।[१] यह शब्द अथर्ववेद में एक ही बार आया है । सूत्रकार कौशिक ने पितृमेध यज्ञ के प्रसंग में अष्ट्रा क्षत्रियों के हाथ में धनुष तथा वैश्यों के हाथ में अष्ट्रा गृहण करने का विधान किया है ।[२] इससे ज्ञात होता है कि खेती का काम वैश्य लोग ही करते थे ।

(घ) कृषि कार्य का प्रारम्भ :- यह कार्य बड़े ही धूमधाम से आरम्भ होता था । एक मंत्र से प्रतीत होता है कि इस अवसर पर हल रेखा (सीतT) में घृत और मधु छोड़ कर देवों की पूजा की जाती थी । उनका विश्वास था कि इससे वे दूध घी से सम्पन्न होंगे ।[३] शुनासीर हमें प्रसन्न करें, जो स्वर्ग का बना दूध है उससे इस (सीता) को सींचें ।[४] हे सीता, हम तुम्हारी वन्दना करते हैं तुम सौभाग्यवती बनो जिससे हमारे खेत प्रसन्न होकर अच्छे फलों को देने वाले हों ।[५] इस सूक्त के अन्य मंत्रों से किसी के सम्बन्ध में विशेष विवरण प्राप्त होता है । मेधावी[६] लोग भूमि जोतने के लिये हलों को जोड़ते हैं और धीर जन जुआ को बैलों की गर्दन पर रखते हैं ।

१- शुनमष्ट्रामुदिङ्गय । सफलता पूर्वक पैनT (डंडT) उठाओ ३,१७,६

२- धनुर्हस्तादिति क्षात्रियस्य । अष्ट्रामिति वैश्यस्य । कौ० सू० ८०,४६,५०

३- घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः। सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ।। ३,१७,९

४- शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम् । यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ।।३,१७,७

५- सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव । यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ।३,१७,८

६- सायण ने मंत्र ३,१७,१ में आये कवि शब्द का अर्थ मेधावी किया है । सम्भवतः रथकार ही हल भी बनाते थे, क्योंकि उन्हें एक स्थान धीवान कहा गया है । ये धीवानो रथकारा ३,५,६

इस प्रार्थना से देवता प्रसन्न होते हैं।[1] हे कृषको, हल (सीर) को जुआ (युग) से मिलाओ और बीज उत्पन्न करने योग्य उर्वरा (योनि) में बीज वपन करो। विराज[2] से युक्त हम लोगों को फल प्राप्त (सभरः) करावें तथा फसल काटने योग्य हो।[3] वज्र के समान नुकीला, सुखकर, तथा अच्छी चिकनी मूठवाला हल गाय, भेड़, चलने वाला रथ और सब कामों में समर्थ प्रथम वय: वाली कन्या प्रदान करता है।[4] कृषि से सम्बन्धित देवताओं में इन्द्र और पूषन् का नाम प्रमुख था जिनकी इस प्रसंग में पूजा होती थी। इन्द्र देव हल पद्धति को ग्रहण करें तथा पूषा उसकी रक्षा करें। वह निरन्तर सम्यक् रूप से हमें दुग्धादि प्रदान करे।[5] उनकी सर्वदा इच्छा थी कि उनका सुन्दर फाल सुगमता से भूमि की जुताई करे तथा हलवाहा बैलों का पीछा करे। हे शुनासीर हविष् से प्रसन्न होकर यव, धान (औषधि)[6] को फलयुक्त करो।[7] हल चलते समय

१- सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नयौ ।। ३,१७,१

२- सायण व्रीह्यादि रूपस्य ~~मंत्र का अर्थ~~ विराजः
का भाष्य करते हैं ।

३- युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः
पक्वमा यवन् ।। ३,१७,२

४- लाङ्गलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु । उदिद् वपतु
गामविं प्रस्थावद् रथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्यम् ।।
३,१७,३

५- इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ।। ३,१७,४

६- औषधी: व्रीह्यादया, सायण मंत्र ३,१७,५ पर

७- शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु-
यन्तु वाहान् । शुनासीरा हविषा तोशमाना
सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ।। ३,१७,५

हलवाहे और बैलों को कोई कष्ट न हो और सभी उपकरण ठीक से रहें इसके। निरन्तर प्रयत्न किया जाता था। बैल हल को सुगमता से खींचे तथा हलवाहा (नर:) सुख से उनका अनुगमन करें। रस्सियां (बैलों के गले) में अच्छी तरह बांधी जाएं और पैना (अष्ट्रा) आसानी से घूमता रहे"।[१]

(ङ) कृषि के लिये उपयुक्त ऋतुयें :- प्राप्त विवरण से स्पष्ट होता है कि अथर्ववैदिक काल में आर्यदेश में सभी ऋतुओं का अनुभव किया जाता था। (मध्य एशिया तथा यूरोप में छ: ऋतुओं का अस्तित्व नहीं है) एक मंत्र में ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमंत, शिशिर और वसन्त आदि छ: ऋतुओं का वर्णन है।[२] परन्तु इन ऋतुओं में खेती के लिये सबसे उपयुक्त कौन सी ऋतु थी, इसका वर्णन नहीं मिलता। इस काल में प्राय: सभी अन्न (धान, जौ, तिल, उड़द) उत्पन्न होते थे।

(च) खाद की व्यवस्था :- कृषि के लिये खाद की बहुती आवश्यकता होती है। इस काल में पशुओं की अधिकता होने से खाद की कमी नहीं थी। एक मंत्र में गाय का विशेषण करीषिणी (गोबर उत्पन्न करने वाली) है।[३] एक अन्य स्थान पर गाय (शकृत्) द्वारा

१- शुनं वाहा: शुनं नर: शुनं कृषतु लाङ्गलम्।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ।। ३,१७,६

२- ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद हेमन्त: शिशिरो वसन्त:
ऋतवस्ते विहिता हायनी रहो रात्रे पृथिवी नो
दुहाताम् ।। १२,१,३६

३- अस्मिन् गोष्ठे करीषिणी: । ३,१४,३

पोषण करने वाली गायों का उल्लेख है तथा अन्यत्र दासी गोबर फेंकती हुई प्रदर्शित है ।[2] कदाचित् गोबर का उस समय खाद के लिये उपयोग किया जाता था ।[2]

(छ) सिंचाई की व्यवस्था :- एक सूक्त में पानी के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक वर्णन है जिसे सायण वर्षा के लिये इच्छुक व्यक्ति द्वारा प्रयोग करने का विधान करते हैं ।[3] अन्यत्र वर्षा का हृदयग्राही वर्णन है । कृषि सामान्यतया आकाश के बादलों पर ही आधारित थी । वर्षा के द्वारा खेत सुशोभित होता था तथा विभिन्न प्रकार के अन्न उत्पन्न होते थे ।[4] उनको यह ज्ञान था कि आकाश से जो वृष्टि होती है वह समुद्र का जल है ।[5] वर्षा के लिये वे प्रार्थना करते थे और कहते थे रंग विरंगे मेंढक बोलें ।[6] क्योंकि मण्डूक वर्षा के देव पर्जन्य की बोली जानने वाले कहे गये हैं ।[7]

१- इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत । ३,१४,४ द्रष्टव्य ह्विट्ने अथर्ववेद संहिता, पृ० ११०

२- यदस्या: पल्पूलनं शकृद् दासी समस्यति ।। १२,४,९ द्रष्टव्य वै० इं०, भाग १, पृ० १११ जहां खाद के उपयोग का संकेत है ।

३- सूक्त ३,१३, पर सायण की भूमिका ।

४- वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् । जायन्तामोषधयो विश्वरूपा: ।। ४,१५,२

५- उदीरयत मरुत: समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत् पातयाथ । ४,१५,५

६- वदन्तु पृश्निबाहवो मण्डूका । ४,१५,१२

७- वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्रमण्डूका अवादिषु: । ४,१५,१३

वर्षा लोगों का प्राण है और स्वर्ग का अमृत[1]। वर्षा न होने से महान् क्षति उठानी पड़ती थी। कदाचित् इसीलिये ब्राह्मण विरोधी राजा को श्राप दिया गया है कि उसके राज्य में अवर्षण हो।[2]

परन्तु अवर्षण से बचने के लिये मनुष्य उद्यम भी रखता था। उस काल में कूयें थे।[3] लेकिन उनके निर्माण आदि के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं होता। एक स्थल पर घड़े में लाये हुए जल का उल्लेख है। कूएँ से किस प्रकार सिंचाई होती थी यह भी स्पष्ट नहीं होता। अथर्ववेद में तीन स्थलों पर[4] 'खनित्रिमा' शब्द आया है। व्हिट्ने[5] ने इसका अनुवाद खोद कर लाया हुआ जल किया है। वैदिक इंडेक्स में खनित्रिमा को सिंचाई के लिये व्यवहार में लाई जाने वाली कृत्रिम पानी की नहरों का द्योतक कहा गया है।[6] इससे स्पष्ट है कि अथर्ववैदिक लोग कृषि उत्पादन के लिये कृत्रिम साधनों का भी प्रयोग करते थे।

१- स नो वर्षं वनुतां जातवेदा: प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि। ४,१५,१०

२- न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति। ५,१६,१५

३- यां ते कृत्या कूपेबदधु:। ५,३१,८ एवं ६,४,१६ भी या: कुम्भ आभृता:। १,६,४

४- १,६,४, ५,१३,६, १६,२,२

५- व्हिट्ने, अथर्व० सं०, पृष्ठ ६ मंत्र शं न: खनित्रिमा आप:। १,६,४

६- वै० इं०, भाग १, पृ० २१४ अंग्रेजी संस्करण,१६५८, बनारस।

(ज) कृषि की संरक्षा :- विभिन्न कारणों से कृषि की क्षति हो जाया करती थी । इसीलिये एक सम्पूर्ण सूक्त में जौ को भली भांति बढ़ने और उसके ढेर (राशि) को कम न होने के लिये प्रार्थना की गई है ।[१] असमय में वर्षा होने से फसल नष्ट हो जाती थी । अत: विद्युत से प्रार्थना की गई है कि वह अन्न हो नष्ट न करे । सूर्य अपनी प्रखर किरणों से कृषि को न सुखावे ।[२] विद्युत वर्षा और आंधी की द्योतक थी । अत: प्राकृतिक कारणों (पाला, ओले, सूखा) से कृषि क्षति ग्रस्त हो जाती थी ।

इसके अतिरिक्त कृषि के महान् शत्रु कीड़े, चूहे आदि हैं। सम्पूर्ण सूक्त[३] में उनके विरूद्ध उपचार का वर्णन किया गया है । हे अश्विन, अड़ियल जानवर (तर्द), समङ्क, चूहे (आखुम) को मारो, इनके सिर को काटो, उनके मुंह को बांधो जिससे वह धान्य को क्षति न पहुंचा सकें ।[४] इसके पश्चात् कीट, पतंग आदि से निवेदन किया गया है कि वे यह पुरोहित के लिये अन्न है इसे न खायें ।[५]

१- उच्छ्रयस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव । ६,१४२,१
अक्षिताः सन्तु राशयः । ६,१४,२३ द्रष्टव्य
व्हिट्ने, नोट, पृ० ३८७

२- मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः
सूर्यस्य ।। ७,११,१

३- ६,५० कौशिक (५१,१७-२२) ने इस सूक्त को मूषक, पतं., शलभ (मक्खी), टिट्टिभ (चिड़ियां), कीट (अन्नों के कीड़े), हरिण (ये खेती चरते हैं), आदि के लिये विरूद्ध अभिचार के लिये प्रयुक्त किया है तथा उसके उपचार का नियम बताते हैं ।

४- हतं तर्दं समङ्कमाखुमश्विना छिन्तं शिरो ।
पिवक्षतं मुखमथाभयं कृणुतं धान्याय ।।६,५०,१

५- इहे वा संस्थित हविरनदन्त इमान यवान् । ६,५०,२

(क) कृषि की कटाई :- पक कर तैयार हुई कृषि कृषकों के लिये अत्यन्त उल्लासवर्धक थी । वे विराट्[1] से प्रार्थना करते थे कि जौ के गुच्छे में अधिक धाने लगें (सभरा) तथा वह पककर शीघ्र ही हँसियों (सृणि) से काटने योग्य हो जाए ।[2] इससे ज्ञात होता है कि कृषि हँसियों (सृणा) से काटी जाती थी।[3] अन्यत्र सम्पूर्ण सूक्त में अन्न की वृद्धि सम्बन्धी प्रार्थना प्राप्त है जिसे सस्य संचय गीत कहा गया है ।[4] इस प्रसन्नता में कृषक कहता था कि मैं उस पयस्वन्त[5] को जानता हूँ जिन्होंने अधिक अन्न उपजाया है । जो देव कृषि को एकत्र करने वाला था ।[6] उनका हजारों स्रोत के रूप में प्राप्त धान्य शीघ्रता से व्यय होने वाला नहीं था ।[7] वे प्रसन्नता पूर्वक सैकड़ों हाथों (अत्यन्त सावधानी) से बोई हुई कृषि को काट लाते थे तथा उससे भी अधिक सावधानी से (सहस्रहस्त) उसे एक स्थान पर एकत्र करते(संकिर) थे ।[8] सस्य संचयन के अवसर पर

१- अन्नं वै विराट् ३,८,१०,४ शतपथ ब्रा०

२- विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदिय इत् सृण्य पक्वमा यवन् ।। ३,१७,२

३- द्रष्टव्य वै०इ०, भाग २, पृ० ५२१

४- कौ० (२१,१) ने इस सूक्त ३,२४ को कृषि की समृद्धि के लिये प्रयुक्त किया है ।

५- पयस्वन्त किसी देव का नाम है जिसे बीज बोने के समय हल रेखा (सीता) में घृत और मधु अर्पित किया जाता था, घृतेन सीता मधुना समक्ता। अथर्व ३,१७,९

६- वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु ।
सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं पयं हवामहे ।।३,२४,२

७- अस्माकं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ।३,२४,४

८- शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर ।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ।। ३,२४,५

वे प्रजापति की प्रार्थना अधिक और नष्ट न होने वाले धन (स्फाति) के लिये करते थे, क्योंकि प्रजापति धन (स्फाति) को लाने वालों (उपोह:) उसे एकत्र करने वालों (समूह:) तथा बाँटने वालों (क्षत्तार:) और अक्षय धन प्रदान करते थे।[1] अब हम सारांश में कह सकते हैं कि पकी हुई कृषि हँसिया (सृण) से काटी जाती थी तथा उसे बाँधकर बोझ के रूप में खलिहान (खल) में पटका जाता था। सूप (शूर्प) की सहायता से अन्न को भूसा और भूसे से अलग किया जाता था। एक स्थल पर कथन है कि सूप भूसे (तुष) को ओसावे।[2] प्राप्त विवरणों से ज्ञात होता है कि भूसा से अलग हुये अन्न को बाँटा जाता था। ये बाँटने वाले क्षत्तार[3] कहे गये हैं। अन्न की तीन मात्रा गन्धर्वों को और चार मात्रा गृहपत्नी को देता था। शेष कृषक का होता था।[4] यह मात्रा सम्भवत: एक पात्र, जिसे ऊर्दर[5] कहा जाता था, का द्योतक है। अथर्ववैदिक परम्परा वर्तमान में भी कृषकों द्वारा पालित है। वे अन्न को

१- उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापति।
ताविहा वहतां स्फातिं बहु भूमानमक्षितम्।।३,२४,७

२- शूर्पं तुषं पलावानप तद् विनक्तु।। १२,३,१९
द्रष्टव्य व्हिटने अथर्व०सं०, पृ० ६८६

३- मंत्र ३,२४,७ में क्षत्तारौ, द्रष्टव्य वै० इं०, भाग १, पृ० २२२ भी

४- तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्या।
तासां स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि।।३,२४,

५- ऊर्दरं न पृणता यवेन ऋग्वेद २,१४,११, उद्धृत वै०इं०, भाग १, पृ० २०२

भूसे से निकालने के पश्चात् अन्नराशि में से अन्न लेकर सूर्य की तरफ मुंह कर तीन बार पृथिवी पर तीन देवों का भाग रखते हैं। इस कार्य के बाद ही अन्न ढोकर घर ले जाते हैं।

(ट) कृषि के अन्न :- इस काल में जौ, धान, माष और तिल की खेती होती थी।[1] एक मंत्र में अधिक सांवों (श्यामाक) उत्पन्न होने की अभिलाषा प्रकट की गई है।[2] एक दूसरे मंत्र में ईख का उल्लेख है। जिससे ज्ञात होता है कि इस समय ईख की भी खेती होती थी।[3]

उक्त ~~विवरणों~~ विवरणों से ज्ञात होता है कि आधुनिक काल की भांति अथर्व काल में भी लोगों की जीविका का प्रमुख साधन कृषि था। इस समय कृषि को घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। इन्द्र भी हलवाहे का काम कर सकते थे।[4] और हलवाहे भी सैकड़ों सत्कर्म करने वाले होते थे।[5]

१- व्रीहिमन्नं यवमत्तमथो माषमथो तिलम् ।। ६,१४०,१

२- श्यामाकं पक्वं पीलु च वारस्या अकृणोऽब्रीहि: ।।
२०,१३५,१२

३- परित्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे । १,३४,५

४- इन्द्र आसीत् सीरपति: शतक्रतु: कीनाशा आसन् ।
६,३०,१

५- वही ६,३०,१

३. पशु-पालन

कृषि कर्म के अतिरिक्त अथर्ववैदिक आर्यों का प्रमुख उद्योग पशु पालन था । दूध उनके भोजनका प्रधान अंग था । बैल खेती के काम में आतेथे और गायें दूध देती थीं । ~~मवर्ष के रुख~~

गायें रंग बिरंगी थी । श्वेतगाय को कर्की कहा जाता था । उसके बछड़े की रक्षा करने का प्रसंग उपलब्ध है ।[१] प्रथम बार दुही जाने वाली गाय को तथा अमृत के समान दूध देनी वाली गाय को गृष्टि कहा जाता था ।[२] दूध देने वाली दुग्धा गाय को धेनु कहा जाता था ।[३] बाँझ गाय को वशा[४] तथा बच्चा देकर बाँझ होने वाली गाय को सूतवशा कहा गया है ।

पशुओं के निवास स्थान को गोष्ठ कहा जाता था।[५] जहाँ गायें वर्षा, गर्मी आदि से संरक्षण पाती थीं ।

पशुओं की संरक्षा केलिये देव प्रार्थनाएं की जाती थीं ।[६] एक सूक्त में अरुन्धती नामक औषधि से रुद्र के पाश से उत्पन्न रोग की शान्ति का निवेदन किया गया है । इस प्रार्थना से गायें रोगमुक्त होकर अधिक दूध देने

१- कर्की वत्सामिह रक्षा वाजिन् ।। ४,३८,६-७

२- केवलीन्द्रियाय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयुषं प्रथमं दुहाना । ८,६,२४

३- यशं दुहानं सदमित् प्रपीनं पुमासं धेनुं सदनं रयीणाम्।। ११,१,३४

४- त्रीणि वै वशाजातानि विलिप्ती सूतवशा वशा । १२,४,४७

५- आ गावो...सीदन्तु गोष्ठे अस्मै । ४,२१,१
पशूनां सर्वेषां स्फातिं गोष्ठे मे सविता करत् । १९,३१,१

६- सूक्त २,२६ और ३,१४ गौओं की संरक्षा के लिये प्रयुक्त किये जाते थे ।

लगती थीं ।[1] इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन भिषक् लोग पशु चिकित्सा भी करते थे । जो गाय बछड़े को दूध नहीं पिलाती थी उसे अभिचार के द्वारा बछड़े से युक्त किया जाता था ।[2] इस प्रकार यह कामना की जाती थी कि गायें बछड़े देनेवाली, चरागाहों में चमकने वाली तथा अच्छे जलस्थानों में शुद्ध जल पीने वाली हों । न उसे कोई चुरावे और न उन्हें रुद्र का पाश बाँधे ।[3] गायें अपनी अनेक उपादेयता के कारण और उनमें दैवी आस्था के कारण अवध्य समझी जाती थीं । उनके कानों पर सम्भवत: पहचान के लिये या किसी धार्मिक भावना से प्रेरित होकर चिन्ह लगाया जाता था । यह सम्भवत: आग में जला कर लाल हुये चाकू (स्वधिति) से दोनों कानों पर बनाया जाता था । यह चिन्ह (लक्ष्य) अश्विनी लोग सन्तान वृद्धि के लिये बनाते थे ।[4]

१- धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति करत् पयस्वन्तं गोष्ठम् ।
६,५९,१-२

२- अघ्न्ये पनोधि वत्सो नि हन्यताम् । ६,७०,१
पुष्टिं सा अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेव पश्यते ।।
६,४,१६

३- प्रजावती: सूयवसे रुशन्ती: शुद्धा अप: सुप्रपाणे पिबन्ती: ।
मा व स्तेन ईशत माघशंस: परि वो रुद्रस्य हेति-वृणक्तु ।। ४,२१,७

४- लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयो: कृधि ।
अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु ।। ६,१४१,२

बैल :- अथर्ववैदिक समाज में बैलों का उपयोग अनेक प्रकार से किया जाता था । वे हल जोतने तथा बोझा खींचने के लिये नियमत: काम में लाये जाते थे । बैल के लिये प्रयुक्त साधारण शब्द वृषा या ऋषभ था ।[१] गाड़ी खींचने में समर्थ बैल को अनड्वान्[२] कहते थे । ऋषभ अहिंसित कहा गया है ।[३]

घोड़ा :- घोड़े के लिये अश्व, अर्वन् और वाजिन् शब्द मिलते हैं । सर्वोच्च कोटि का घोड़ा अर्वन् कहा जाता था । तेज दौड़ने वाले घोड़े को वाजिन् कहा जाता था । एक स्थल पर घोड़े द्वारा गाय के बछड़े की रक्षा का प्रसंग है ।[४] इससे ज्ञात होता है कि पशुओं की चरवाही घोड़े पर चढ़ कर भी की जाती थी । नवजात बछड़े निरुद्देश्य तेज दौड़ते हैं अत: उनकी रक्षा घोड़े से ही सम्भव थी । अन्यत्र काले कानों वाला श्वेत घोड़ा विशेष महत्वपूर्ण कहा गया है ।[५] क्षिप्रता और निश्चयता से अर्वन्-रथ खींचने के कारण घोड़ियों को ही अधिक अच्छा समझा जाता था ।[६]

१- साहसान् इव ऋषभ: । ३,६,४ एवं ६,१४,१६ भी

२- श्रमेणानड्वान् कीनाशश्चाभि गच्छत: । ४,११,१०

३- वही ३,६,४

४- वर्की वत्सामिह रक्षा वाजिन्। अर्वन् निहितो गुहा । ६,१-२

५- नास्य श्वेत: कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते ।
५,१७,१५

६- कौशिक (४१,२६) सूक्त ७,४ को वायु की घोड़ी के लिये बतलाते हैं ।

घोड़े रथ खींचने के अतिरिक्त दौड़ में भी भाग लेते थे । एक मंत्र में कहा गया है "हे वाजिन्, तुम वायु के वेग के समान हो । रथ में जुते हुये तुम इन्द्र के मन के समान तेज दौड़ो । सर्व सम्पन्न मरुत देव तुम्हें रथ में नियोजित करें तथा त्वष्टा तुम्हारे पैरों में वेग धारण करावें ।"[1] इसी प्रकार सम्पूर्ण सूक्त में घोड़े को द्रुतगामी होने की प्रार्थना की गई है । घोड़ों की लगाम को रश्मि कहा जाता था और घोड़े के अवरोधक को अश्वाभिधानी कहा जाता था ।[2] घोड़े के निवास की भी व्यवस्था थी जहाँ वह घास भी खाता था ।[3]

बकरे को 'अजा' या 'अज' कहते थे ।[4] भेड़ का भी बकरे के साथ उल्लेख है । मृतक संस्कार के समय पूषन् के प्रतिनिधि के रूप में बकरे का उल्लेख है ।[5] बकरे के सींग सम्भवतः औषधि के काम में आते थे ।[6]

ऊँट भी आर्यों का उपादेय पशु था । वह भारी रथों को खींचने का काम करता था ।[7]

१- वातरंहा भव वाजिन् युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः । युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस जाते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ।। ६,६२,१

२- त्वं अग्ने तं विक्रीतिर्धवामश्वमिवाश्वाभि धान्या । स उ पाशान् मुच्यते । ४,३६,१०

३- अश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै । १६,५५,१

४- अज एक ९,५,१, अजा ६,७१,१ (स्त्रीलिङ्ग) यावतीनामजावयः। ८,७,२५, ५,२१,५, इत्यादि

५- अजो भागस्तपसस्तं तपस्व । १८,२,८

६- सूक्त ४,३७ मे औषधि के रूप में प्रयुक्त है ।

७- उष्ट्रा यस्य प्रवाहणो वधूमन्तो द्विर्दश । वर्ष्मा रथस्य नि जिहीडते दिव ईषमाणा उपस्पृशः ।। २०,१२७,२

एक मंत्र में हाथी का उल्लेख है।[1] इसके अतिरिक्त अन्य जंगली पशुओं में मृग, सिंह, व्याघ्र, गीदड़, भेड़िया और ऋक्ष आदि का उल्लेख है।[2]

(४) व्यापार

कृषि एवं पशुपालन के अतिरिक्त व्यापार का भी आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान था। इस काल में वणिक् अपने सामानों को व्यापार के हेतु एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाता था। इसका सम्यग् वर्णन आगे किया जाएगा।

(५) व्यवसाय

तत्कालीन समाज चार वर्गों में विभाजित हो चुका था। सभ्यता और संस्कृति के विकास में व्यवसायों को प्रोत्साहन दिया। उनकी विभिन्न आवश्यकताओं - कृषि, युद्ध एवं धर्म इत्यादि - ने कई व्यवसायों को जन्म दिया।

पुरोहित :- समाज में पुरोहित वर्ग की अतीव महत्ता थी वे यज्ञ सम्पादन, अध्यापन और अभिचार आदि कार्य के द्वारा अपनी जीविका चलाते थे। अथर्वन् समाज में पुरोहित लोग ही श्रेष्ठ वैद्य थे। इन्हें विभिन्न वर्गों में बाँटा गया है। प्रधान यज्ञ कर्ता पुरोहित को ऋत्विज कहा जाता था। अन्य पुरोहितों में होता, अध्वर्यु, प्रशास्तृ, उद्गातृ आदि होते थे।

१- यथा हस्ती हस्तिन्याः पदेन पदमुद्युजे। ६,७०,२

२- ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अपबाधयास्मत्॥ १२,१,४९

भिषग् कर्म :- समाज में वैद्य का काम अथर्वन् और आंगिरस पुरोहित करते थे । इनकी औषधि बहुत ही विख्यात थी ।[1] इन भिषकों की जीविका औषधि के विक्रय मूल्य पर निर्भर थी । कई स्थानों पर औषधि खरीदने का प्रसंग है ।[2] प्रभावशाली औषधियाँ रथ देकर खरीदी जाती थी ।

ज्योतिषी :- अथर्ववेद के दो सूक्तों में २८ नक्षत्रों का वर्णन है ।[3] एक स्थल पर ज्येष्ठघ्नी नक्षत्र में उत्पन्न बालक की शान्ति के लिये तथा यम के मूलबर्हण से छुड़ाने के लिये अभिचार किया गया है । इससे तत्कालीन उन्नत ज्योतिर्विद्या का आभास मिलता है । इसलिये इसके ज्ञाता अवश्य ही रहे होंगे । जो बालकों की उत्पत्ति के समय नक्षत्रों का उल्लेख करते थे । यजुर्वेद में ज्योतिषी का वाचक शब्द गणक और नक्षत्रदर्शी प्राप्त होता है ।[5]

१- आथर्वणी राङ्गिरसीर्दैवी मनुष्यजा उत ।
   औषधय: प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ।।
   ११,४,१६

२- अपक्रीता: विरुधो । ८,७,११ प्रक्रीरसि त्वमोषधे
   ४,७,६
   यन्मातली रथक्रीतममृतं वेद भेषजम् ।। ११,६,२३

३- १९,७ एवं १९,८ इसके अतिरिक्त मंत्र ६,११०,१९,११३ भी

४- ज्येष्ठघ्न्यांजातो विचृतोर्यमस्य मूल बर्हणात् परि पाह्येनम् ।। ६,११०,२

~~५- ये-धीवानये-रथकारा:-कर्मारा-ये-मनीषिण: ।। ३,५,६~~

सर्वान्
५- वाजसनेयी ३,२०, वै०इं०, भाग १,पृ० २४२

(६) उद्योग धन्धे

इस काल में कुछ उद्योग धन्धों का विकास भी हुआ था । ये उद्योग धन्धे उस काल की विकसित सभ्यता पर प्रकाश डालते हैं ।

रथकार :- रथकार का अथर्ववेद में केवल एक ही स्थान पर उल्लेख है । जहाँ उससे धीवान् (बुद्धिमान) की उपाधि दी गई है ।[१] एक दूसरे मंत्र में हल जोड़ने वाले को कवि कहा गया है ।[२] इससे ज्ञात होता है कि रथकार रथ की अपेक्षा काष्ट के अन्य उपकरणों - हल, आदि - को भी बनाता था । इस काल में रथकारों की अत्यन्त महत्ता थी । सम्भवत: इसी कारण एक अभिचार में राजा ने इन्हें अपने अनुकूल बनाने की कामना की है । हिलेब्रान्ट के अनुसार अनुस् जाति ही रथकार वर्ग के निर्माण का आधार थी क्योंकि यह जाति उन ऋभुओं की उपासक थी जो अत्यन्त उत्कृष्ट रथ निर्माता माने जाते थे ।[३] अथर्ववेद में ऋभू चतुरता और बुद्धिमानी से रथ जोड़ने वाला कहा गया है । इनकी हस्त कला सुन्दर थी और इनकी पूजा होती थी । यास्क का कथन है कि सुधन्वा आंगिरस के ऋभु:, विभ्वा और वाज नामक तीन पुत्र थे जो रथ निर्माण के कार्य से देवत्व प्राप्त किये थे ।[४]

१- यस्ते पर्षांषि संदधौ रथस्येव भूर्धिया । १०,१,८
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत् परुषा पर :।४,१२,
या मेधा ऋभवो विदु.. तां मयुया वेशयामसि ।
६,१०८,३

२- सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।
३,१७,१

३- वेदिक माइथोलोजी ३,१५२-५३ । उद्धृत वैं० इं०
भाग २, पृ० २७

४- यास्क निरुक्त ११,१६ सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रय: पुत्रा बभूवुऋभुर्विभ्वा वाज इति उद्धृत सायण मंत्र ४,१२,७ पर ।

कर्मार (धातु शिल्पी): - अथर्व० में एक स्थान पर अच्छे कर्मारों द्वारा धातु (अयस्) को अग्नि में गलाने का उल्लेख है।[1] इससे ज्ञात होता है कि कर्मारों का वही काम था जो आज लोहार, स्वर्णकार और ठठेरे करते हैं।

तक्षान् :- अथर्ववेद में यह शब्द केवल एक ही बार आया है।[2] वहाँ यह हाथ में चाकू (शिक्व) लिये प्रदर्शित है। मैक्डानल महोदय[3] के अनुसार ये लकड़ी की वस्तुयें तथा महीन नक्काशी का कार्य करते थे। इनके निर्मित यंत्रों में कुलिश और परशु आदि हैं।

कुलाल (कुम्हार):- यह पात्र बनाने वालों का द्योतक है। संहिता में इनका उल्लेख नहीं है। परन्तु कुम्भ (घड़े) की उपस्थिति उसके कर्ता को सिद्ध करती है।[4]

इषुकार या इषुकृत :- इषुकार लोग बाण बनाने का व्यवसाय करते थे। अथर्ववेद[5] में बाण के भागों को इस प्रकार गिनाया गया है ; शरदण्ड (शल्य), परवाला भाग (पर्णधि) नोक (श्रृंग), नोक के गले का भाग जिसमें शरदण्ड लगा होता था (कुल्मल), तथा उसके भागों को अपस्कम्भ और अपाष्ठ

१- सुवर्माणः सुरुचो देवयन्तो अयो न देवा जनिमा धमन्तः। शुचन्तो अग्निं वावृधन्त ।। १८,३,२२

२-यत् त्वा शिक्वः परावधीत् तक्षा हस्तेन वास्या।
१०,६,३

३- वै० इं०, भाग १, पृ० ३३३ (हिन्दी), १९६२
'वृश्चा‍‍‍‍तितं कुलिशेन इव वृक्षां' कुलिश कुल्हाड़ी के रूप में रथ बनाने और वृक्ष काटने के अर्थ में प्रयुक्त है।

४- कुम्भान् (४,३४,७, १८,३,६८, ४,२५) कुम्भ ३,१२,७ आदि।

५- शल्याद् - पर्णधे। अपाष्ठाच्छृंगात् कुल्मलान् निरवोचमहं विषम्। ४,६,५

भी कहा जाता था जिनका आशय सन्देह जनक है। अन्यत्र विषयुक्त बाण का उल्लेख है।[1] उनसे इषुकारों के व्यवसाय का ज्ञान प्राप्त होता है। धनुष और ज्या (प्रत्यंचा) का भी उल्लेख है।[2]

वस्त्र बनाने का व्यवसाय :- इस काल में वस्त्र निर्माण कार्य भी सम्पन्न होता था। धागे को तन्तु कहा जाता था तथा बाना को ओतु।[3] जो अन्त है जो किनारे हैं, जो बुनाई है, और जो धागे है, जो स्त्रियों द्वारा बुने वस्त्र हैं, वे हमें सुख-स्पर्श करने वाले हों।[4] एक अन्य मंत्र में मनुष्य द्वारा बनाये गये वस्त्र को पहनाने का उल्लेख है। एक लाक्षणिक प्रयोग में रात्रि और दिन को दो बहनों के रूप में व्यक्त किया गया है वे दोनों वर्ष का एक ऐसा जाल बुनती हैं जिसमें रात्रि ताना और दिन बाना होता है।[5] खूटियों को मयूख: कहा जाता था जिससे सूत ताना जाता था। इसमें छ: खूंटियों (षाण्मयूख:) का उल्लेख है। उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि बुनने का काम स्त्रियां करती

१- ६,७५,१५

२- ४,४,४ ज्या ११,१०,२२

३- ये अन्ता यावती सिचो य ओतवो ये तन्तव: ।
वासो यत् पत्नीभिरुतं तन्नं स्योनमुपस्पृशात् ।।
१४,२,५१

४- अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा ।७,३७,१

५- तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयत: षाण्मयूखम् ।
प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या वृ जाते न गमातो अन्तम् ।। १०,७,४२

थी । वस्त्र बुनने वाले किसी वर्ग विशेष का विवरण प्राप्त नहीं है । सूती धोती को वासस् तथा रेशमी वस्त्र को तार्प्य कहा जाता था ।[1] परूष्णी नदी के तीर पर बहुत ही बढ़िया पतले तथा रंगीन ऊनी वस्त्र तैयार होते थे । ऊन के बने शुद्ध वस्त्र पहनने का उल्लेख किया गया है ।[2]

नाई :- नाई को वप्तृ कहा जाता था तथा उस्तरे को क्षुर । क्षुर से गर्म पानी से भीगे बाल बनाने का वर्णन एक सम्पूर्ण सूक्त में आता है ।[3] परन्तु उससे किसी जाति का निश्चय नहीं होता । क्षुर की शान रखने वाले चर्पट (मुरिजोस) पर क्षुर इसी प्रकार चलता है जिस प्रकार ओठ पर जिह्वा ।

मलग :- यह शब्द धोबी अथवा वस्त्रों का परिष्कार करने वाले का द्योतक है ।[4] सम्भवतः उसका मूलतः मल से सम्बद्ध अर्थ रहा हो सकता है ।[5] त्सिमर का विचार है कि मल का अर्थ मलिन परिधान मात्र से है ।[6] मलग का चाहे जो भी तात्पर्य हो परन्तु

१- वसानंस्तार्प्यं चर । १८,४,३१

२- ऋग्वेद १०,७५,८

३- ६,६८, मुरिजोस् सान रखने का चर्मपट ।
ब्लूमफील्ड, पृ० १६७

४- एतां त्वचं लोहिनीं त्वं ता नुदस्व ग्रावा शुम्भाति मलग इव वस्त्रा । १२,३,२१

५- देखिये सैन्ट पीटर्सबर्ग कोष। पण्क्रिम स्थानीय

६- आल्टिन्डिशे लैबेन, २६२

यह संशापचीर्ौ है और यह वस्त्रों को साफ करता था। वस्त्र प्रच्छालन करने वाले का दूसरा नाम वास: पल्पूली था।[1]

<u>गोपू</u> :- यह वशा (वन्ध्या) गाय के रक्षक के रूप में आया है। यह गोपाल (ग्वालों) का मूल शब्द ज्ञात होता है।[2] पशुप भी इसी का द्योतक है।[3]

<u>कीनाश</u>:- ये लोग हल चलाते थे।[4] इनका चिन्ह अष्ट्रा (पैना) था।

<u>धातु व्यवसाय</u> :- अयस् - धातु ~~शब्द~~ का वाचक एक (शब्द) अयस् है। इसका पात्र बनता था।[5] त्सिम्मर महोदय अयस् को लोहा न मान कर कांसे का आशय स्वीकार करते हैं।[6] ग्रिफिथ अयस् का अनुवाद लोहा करते हैं।[7] अथर्ववेद में अयस् को दो उप प्रकारों में विभक्त किया गया है - श्याम तथा लोहित।[8] वैदिक

१- वाजसनेयिसंहिता ३०,१२ देखिये वै०इं०, भाग २ पृ० ३२६

२- शर्तं गोप्तार: अधि पृष्टे अस्या: । १०,१०,५

३- ऋग्वेद १,११४,६

४- शुनं कीनाशा अनुयन्तु वाहान् । ३,१७,५

५- अयस्पात्रं पात्रम् । ८,१०,२२

६- आल्टिन्डिशे लैबेन, ५२

७- हिम्स आफ अथर्ववेद, भाग१, पृ०४१, मंत्र ८,१०,२२

८- श्याममयोस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् ।११,३,७

इण्डेक्स के लेखक श्याम (कृष्णवर्ण) तथा लोह (लाल) का क्रमश: लोहा और ताँबा करते हैं । अन्यत्र भी श्याम शब्द धातु के लिये प्रयुक्त है ।[१] श्रेडर का मत है कि अथर्ववेद के एक स्थल पर लोहे का आशय निश्चित प्रतीत होता है ।[२] अत: अयस् शब्द उभय अर्थ का मान भी लिया जाए तो भी निश्चित रूप से उनके लौह ज्ञान पर प्रकाश पड़ता ही है । उस्तुरे (क्षुर) सुई आदि के लिये लोहा ही अधिक उपयुक्त होता है । अग्नि का दाँत लोहे से निर्मित बताया गया है ।[३] व्हिट्नी ने इसका अर्थ लोहे का दाँत किया है । दूसरी जगह भी उसने अयोमुखा: का लोहे के मुख का आशय लिया है ।[४] तथा एक मंत्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि लौह से बने जाल वाले असुरों का वध करें ।[५] अत: लोहे से विभिन्न वस्तुओं का निर्माण होता था ।

रत्न :- यह किसी मूल्यवान पदार्थ का द्योतक है ।[६]

रजत :- चाँदी को रजत कहा जाता था । चाँदी के पात्रों का प्रसंग मिलता है ।[७]

१- अनु वृक्य श्यामेन त्वचमेतां । ६,५,४

२- श्रेडर, प्रिहिस्टारिक ऐन्टिक्वीटीज़, १८६ । मंत्र ५,२८,१ देखिये नीचे रजत ।

३- अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानान् । ८,३,२

४- व्हिटने, अथर्व० सं०, पृ० ६५६, मंत्र ११,१०,३

५- १६,६६,१

६- उ। वा शक्रो रत्नं दधातु । ५,१,७ और भी ७,१५,४, ३०,१, १८,१,२६, २,५३

७- रजत: पात्रं पात्रम ८,१०,२३

कुबेर का पुत्र रजतनाभि कहा गया है ।[1] इससे प्रतीत होता है कि चाँदी के आभूषण कञ्चन के रूप में पहने जाते थे । चाँदी का अन्यत्र भी उल्लेख है ।

सुवर्ण :- यह स्वर्ण (सोने) का वाचक है ।[2] सोने के लिये दूसरा प्रयुक्त शब्द हिरण्य है । अथर्ववेद में इसका उल्लेख कई बार हुआ है । पृथिवी पर सोने की अधिकता थी । उसे एक स्थान पर हिरण्य वक्षा कहा गया है । एक अन्य स्थल पर सौ सुवर्ण सिक्कों[3] (निष्क) को ब्राह्मण को दान दिया गया है । अयोध्या पुरी में सुवर्ण युक्त कोष था ।[4]

२. अर्थ व्यवस्था

अथर्ववैदिक काल के व्यापारी को वणिक् कहा जाता था । मोल भाव के लिये प्रपण शब्द का प्रयोग होता था । विक्रय के लिये प्रयुक्त होने वाला शब्द प्रतिपण था ।[5] शुल्क का अर्थ कर है ।[6] इस समय

१- तां रजतनाभि काबेरका धोक् । ८,१०,२८

२- स प्रजापति सुवर्णमात्मानपश्यत् । १५,१,२

३- तस्यै हिरण्यवक्षसे नम: १२,१,२६
   शतं निष्का हिरण्यय: २०,१३१,५ एषा इच्छाय
   मामहे शतं निष्कान् । २०,१२७,३

४- अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
   तस्यां हिरण्यय: कोश: । १०,२,३१

५- द्रष्टव्य व्हिट्ने अनुवाद मंत्र ३,१५,४,६ पर

६- स नाकमभ्या रोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन वलीयसे ।। ३,२९,३
   इस पर व्हिट्ने का अनुवाद भी देखें, पृ०१३६

है कि इन्द्र के इस यज्ञ में बकरे और अन्न आदि सामग्रियाँ कृय की जाती थीं । जो राजा देवों की गाय को उन्हें अर्पित नहीं करता था उसकी सन्तान प्रजा और उसकी सम्पत्ति बेच दी जाती थी ।[1] इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि व्यापार का अधिकांश रूप अदला बदली पर आधारित था । एक वस्तु को देकर दूसरी वस्तु का कृय किया जाता था । यह भी प्रतीत होता है कि कृय विकृय का मुख्य माध्यम गाय, वस्त्र एवं चर्मादि थे । निष्क का भी व्यापार में स्थान था । निष्क का मूल अर्थ सुवर्ण का आभूषण प्रतीत होता है क्योंकि निष्कग्रीव का प्रयोग ग्रीवा के साथ किया गया है ।[2] एक दूसरे मंत्र से ज्ञात होता है कि यह आभूषण पहनने और निकालने में बहुत ही सुकर था ।[3] इसके अतिरिक्त एक दूसरे मंत्र से ज्ञात होता है कि निष्क दक्षिणा देने के काम में भी आता था ।[4] अन्य मंत्र में सौ सुवर्ण के सिक्कों का वर्णन है ।[5] इससे प्रतीत होता है कि निष्क मुद्रा का द्योतक है ।

१- स्वम प्रक्या स कि क्रीणीते पशुभिश्चापि वस्यति ।
य आर्षेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति ।।
१२,४,२

२- नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः ।।५,१७,१४

३- देवा निष्कमिव प्रति मुञ्चत । ५,१४,३

४- निष्का एते यजमानस्य लोके । ७,९९,१

५- शतं निष्का हिरण्ययाः । २०,१३१,५

क्योंकि व्यक्तिगत अलंकरण के लिये शायद ही इतने निष्कों की आवश्यकता रही हो। सिक्कों की माला तो आज भी पहनी जाती है।

वणिक वर्ग :- व्यापारी को वणिक् के अतिरिक्त पणि भी कहा जाता था। अथर्ववेद संहिता में देवों को धन न देने वाले को पणि कहा गया है।[१] इसलिये ब्राह्मण इत्यादि लोग उसके विरोध में रहते थे तथा वरुण आदि देवों से प्रार्थना करते थे कि वे पणियों का पक्ष न करें।[२] इतना ही नहीं देवों से पणियों पर आक्रमण करने का भी निवेदन किया गया है। एक मंत्र से ज्ञात होता है कि इन्द्र ने अग्नि के साथ होकर पणियों को जीता था। कदाचित् इसी लिये दूसरे मंत्र में वणिक् व्यक्ति अपने व्यापार की सफलता के लिये इन्द्र को प्रार्थना करता है और इन्द्र को ही वणिक कहता है।[३] अगले मंत्र में वणिक् लोग अग्नि से प्रायश्चित के लिये क्षमा मांगते हुये वर्णित हैं।[४] इससे ज्ञात होता है कि पणि और व्यापारी कदाचित् एक ही व्यक्ति थे।[५] पणि लोग भी व्यापार की सफलता के लिये अभिचार करते थे।[६]

१- यश्च पणि रघुजिष्ठ्यो यश्च देवां अदाशुरिः।
   धीराणां शाश्वतामहं तदपागिति शुश्रुम ।।२०,१२८,४

२- मा त्वा पणीरभ्येतावतो भूत् । ५,११,७

३- येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय । ४,२३,५

४- इमां अग्ने शरणिं मीमृषो नो । ३,१५,४

५- सैन्ट पीटर्सबर्ग कोष एवं वै०इं०, भाग १, पृ० ५३४ दृष्टव्य ।

६- अस्तृतेमं मा त्वा दभन् पणयो यातुधानाः ।
   १६,४६,२

यवयायात के साधन :- अथर्ववेद में कुछ ऐसे भी विवरण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि तत्कालीन व्यापारी विभिन्न स्थानों में व्यापार करने की योजना बनाता था । व्यापार की सफलता के लिये इन्द्र से प्रार्थना करता हुआ एक वणिक कहता है कि, "मैं परम् एश्वर्य शाली वणिक इन्द्र को आवाहित करता हूँ । वह आवे और हम लोगों के सामने स्थित होकर मार्ग में रहने वाले म्लेच्छों, जंगली भयानक पशुओं का वध कर मुझे धन प्रदान करे । जिन मार्गों से देव लोक पृथिवी और स्वर्ग में विचरण करते हैं वह मार्ग मेरे लिये दूध और घी से युक्त हों तथा व्यापार में मुझे अधिक धन प्राप्त हो ।"[1]

नावों का व्यापार में स्थान :- एक स्थान पर नाव पर चढ़ने का उल्लेख है ।[2] नाव की उपस्थिति व्यापार को सुगम बनाने की ओर संकेत करती है । इस समय लोगों को समुद्र का ज्ञान था और उसमें उत्पन्न होने वाले शंख तथा मोती को वे लोग जानते थे ।[3]

लेन देन :- अथर्ववैदिक काल में ऋण लेने की भी प्रथा प्रचलित थी । विशेषत: जुआ खेलने के अवसर पर । ऋण चुकाने के लिये सं न. प. प्रयुक्त होता था ।[4]

१- इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न एतु पुरएता नो अस्तु ।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्याय ।। ३,१५,१
२- ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावा पृथिवी संचरन्ति । ते मा जुषन्तां पयसा घृतेनयथा कृत्वा धन माहराणि ।।
२- भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम् ।
तयोपप्रतारय यो वर: प्रतिकाम्य: ।।
३- शंखो नो विश्व भेषज: कृशन: पात्वंश ।४,१०,३
दिवि जात: समुद्रप: वही ४,१०,४
४- यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति । ६,४६,३

ऋण न चुकाने का फल बड़ा बुरा हुआ करता था। द्यूत में ऋण परिशोध न करने पर द्यूतकार को जन्म भर दासता स्वीकार करनी पड़ती थी। चारों के समान ऋणियों को सम्भों (द्रुपद) में बाँधा जाता था।[1] एक सूक्त में व्यक्ति द्वारा ऋण से मुक्त होने की चर्चा है। 'हे अग्नि, मैं इस ऋण को इसी जीवन में जीते हुये देता हूँ। जो धन हमने ऋण में लिया है उससे मुक्त करो।'[2] जुये में ऐसे ऋणों का भी उल्लेख है जिनको चुका देने की इच्छा नहीं थी।[3] ऋण पर कितना सूद देना पड़ता था इसका अनुमान करना असम्भव है। एक स्थल[4] पर आठवाँ (शफ) और सोलहवाँ (कला) भाग देनने के का उल्लेख है, किन्तु यहाँ यह निश्चित नहीं है कि वास्तव में इसका तात्पर्य सूद से है अथवा मूलधन के रूप में दिया गया किसी किस्त के है। बिना चुकाये गये ऋण को अपमित्यम् अप्रतीत्तम् कहा जाता था।[5] 'जो मार्ग स्वर्ग को गये हैं हम अनृण हों'।[6] इससे प्रतीत होता है कि उनकी भावना थी कि न दिया हुआ ऋण दूसरे लोक में भी बाधक था। अथर्ववेद के तीन सूक्तों में ऋण सम्बन्धी विवरण प्राप्त होते हैं।[7]

१- द्रुपदादिव मुमुचानः ६,११५,३

२- इहैव सन्तः प्रति दद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत्। उपमित्य धान्यं यज्जघसाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि ।। ६,११७,२

३- यददीव्यन्नृणमहं कृणोम्यदास्यन्नग्न उत संगृणामि। ६,११९,१

४- वही मंत्र ६,४६,३

५- अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि। इदं तदग्ने अनृणो भवामि। ६,११७,१
अपमित्य धान्यं ६,११७,३

६- ये पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम। ६,११७,३

७- सूक्त ६,११७-१९, सायण, दारिल और केशव द्रष्टव्य ब्लूमफील्ड, सै०बु० आफ द ई०भाग ४२,पृ०५२८ नोट।

वैज्ञानिक जीवन

१. भैषज्य विज्ञान :- अथर्वकालिक लोग स्वस्थ जीवन व्यतीत करने के लिये प्रयत्नशील रहते थे । उनका भैषज्य विज्ञान भारतीय संस्कृति के लिये अमूल्य देन है । एक मंत्र से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में सैकड़ों भिषक् लोग थे और हजारों प्रकार की औषधियाँ थीं ।[१] इतना ही नहीं दूसरे मंत्र में तो अथर्ववेद का नाम ही 'भैषज वेद' है ।[२] अथर्ववेद की यह विशेषता परवर्ती साहित्य में भी वर्णित है । सांख्यायन श्रौत सूत्र में भी अथर्ववेद को 'भेषज वेद' ही कहा गया है ।[३] सुश्रुतसंहिता में तो आयुर्वेद को अथर्ववेद का अंग ही कहा गया है ।[४] भैषज्य शास्त्री चरक का कथन है कि चिकित्सक को अथर्ववेद का अध्ययन करना चाहिये । जिसमें स्वस्तिवाचन, दान, बलि, मंगलयुक्त हवन, नियम, प्रायश्चित, उपवास और मंत्रादि के द्वारा चिकित्सा करने का विधान किया गया है ।[५]

उक्त उदाहरण इस बात की पुष्टि करते हैं कि

१- शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः । २,६,३

२- ऋचः सामानि भेषजा यजूंषि होत्रा ब्रूम । ११,६,१४

३- अथर्ववेदो वेदः सोऽयमिति भैषजं निगदेत् । सां०श्रौ० सू० १६,२,१

४- इह खलु आयुर्वेदं नामोपाङ्गमथर्ववेदस्य । १,१,५

५- तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या । वेदो ह्याथर्वणो दानस्वस्त्ययनबलिमङ्गलहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासमंत्रादिपरिग्रहात् चिकित्सां प्राह । चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते । चरक १,३०,२०-२१

आयुर्वेद अपनी उत्पत्ति के लिये अथर्ववेद से ऋणी है ।

भैषज्य विज्ञान का स्रोत :- अथर्ववेद संहिता में प्राप्त विवरणों से ज्ञात होता है कि मनुष्य ने मनुष्येतर जीवों (पशुओं और पक्षियों आदि) से औषधि शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था ।[1] व्यक्ति ने देखा कि पशुओं में एक प्रकृत्या प्रेरणा होती है जिससे वे अपने चारों ओर प्राप्त वनस्पतियों का सेवन करते हैं । इसीलिये विभिन्न पशु-पक्षियों ने औषधि का ज्ञान प्राप्त किया था । "कुछ पौधों को वराह (सूअर) और कुछ को नेवला, कुछ को सर्प और बहुतों को गन्धर्व जानते हैं । जो आंगिरसी औषधियाँ हैं उसे सुपर्ण जानता है । बहुत सी औषधियों को जिन्हें गायें चर जाती है और कुछ को भेड़ तथा बकरियाँ भी, वे सभी औषधियाँ हमारे लिये लाभप्रद और पोषक हों ।[2] वर्तमान समय में भी दवाओं का परीक्षण सबसे पहले पशुओं पर ही किया जाता है ।

विभिन्न रोग :- अथर्ववैदिक लोगों का विश्वास था कि मनुष्य के शरीर में जो रोग उत्पन्न होते हैं वे प्रकृति के प्रकोपों, पिशाच, दानव, गन्धर्व, तथा अभिचारकों के प्रयत्नों से उत्पन्न होते हैं । ये रोग कई प्रकार थे । एक सूक्त में रोगों का आंगिक नाम प्राप्त होता है । उसमें सिर के रोगों को शीर्षामय और कान की पीड़ा को कर्ण-शूल कहा गया है ।[3] अन्तरंग रोग को यक्ष्मा कहा गया है[4]।

१- वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम् ।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे ।। ३,८७,२३
या: सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदु: ।
वयांसि हंसाया विदुर्याश्च सर्वे पतत्त्रिण: ।।
यावतीनामोषधीनां गाव: प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनाम-
जावय: । तावतीस्तुभ्यमोषधी: शर्म यच्छन्त्वाभृता: ।।
८,७,२५

१-द्रष्टव्य डा०सत्यप्रकाश, वै०वि०की भा० प०,पृ०२१६

३- शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम् । सब- ६,८,१

४- यक्ष्मं ते अन्तरङ्गेभ्यो बहि... पदाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि भंसस... रोगमनीनशम् ।। मंत्र संख्या ६,८,७ एवं २१

बलास :- इस रोग में अस्थियाँ और जोड़ अलग हो जाते हैं ।[1] इसकी उत्पत्ति प्रेम, विरक्ति तथा हृदय विकार के कारण उत्पन्न होती है ।[2] सायण इसकी यक्ष्मा के रूप में व्याख्या करते हैं ।[3] बलास का तक्मन् के साथ होना भी यक्ष्मा ~~के रूप में ज्वर~~ की प्रकृति के एक दैत्य के सिद्धान्त के अनुकूल है ।[4] ग्रास्मैन इसका लक्षण ज्वर के सूजन को मानते हैं ।[5] इस व्याधि के उपचार में त्रिककुद, 'अञ्जन' और 'जांगिड' पौधे का उल्लेख है ।[6]

अपचित :- इसका समीकरण कण्ठमाला से किया जाता है । सायण इसका अनुवाद गण्डमाला (गले की ग्रंथियों का सूजन) करते हैं ।[7] इसका उल्लेख कई बार हुआ है ।[8] बाद की व्याधि अपची से इसका सादृश्य प्रतीत होता है ।

१- अस्थिस्रंसं परु स्रंसमास्थितं हृदयामयम् । बलासं सर्वं नाशया । ६,१४,१

२- हृदो बलासमङ्गेभ्यो बहिः । ९,८,८ हृदयामयं ६,१४,१

३- १९,३४,१ पर

४- अयोदाला आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः । ४,९,८

५- इन्डिशे स्टूडियन ९,३९६ और बाद

६- त्रिककुद अञ्जन (४,९) जांगिड (१९,३४,१०)

७- ब्लूमफील्ड, सै० बु० आफ द ई०, भाग ४२ पृ०५०३-०४ और अथर्ववेद एण्ड गोपथ ब्राह्मण, पृ०५९ भी

८- अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव ।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोच्छतु ।। ६,८३,१,
६,२५,७ तथा
६,७५-७७

किलास :- यह श्वेत कुष्ठ नामक रोग का नाम है। इसके परिणाम स्वरूप शरीर की त्वचा पर भूरे (पलित), सफेद (शुक्ल, श्वेत) आदि चित्र विचित्र (पृषत्) धब्बे पड़ जाते हैं।[१] यह चर्मरोग हड्डियाँ आदि शरीर के विकार से तथा अभिचार के द्वारा उत्पन्न होता था।[२] इस रोग की दो औषधियाँ हैं असिक्नी और आसुरी। असिक्नी त्वचा के चिकबरे रंग को तुरन्त दूर करती है।[३] इसी प्रकार आसुरी औषधि किलास का नाश कर त्वचा को सुन्दर बनाती है।[४]

विष्कन्ध :- इसका कई बार प्रसंग आया है।[५] वेबर का विचार है कि यह गठिया अथवा वातरोग है क्योंकि यह कन्धों को अलग अलग खींच देता (वि-स्कन्ध) है।[६] ब्लूमफील्ड इसे किसी दानव का नाम मानते हैं।[७] परन्तु यह एक व्याधि है जिसके विरुद्ध उपचार के लिये कशीप और विशफ पौधों का उल्लेख है।[८] इसके अतिरिक्त जङ्गिड पौधा भी इसके उपचार में उल्लिखित है।[९]

१- किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत्। आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ।। १,२३,२

२- अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि। ... ब्रह्मणा ... लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ।। १,२३,४

३- असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव। असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ।। १,२३,३

४- आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं ... अनीनशत्किलासं सरूपामकरत् त्वचम् ।। १,२४,२

५- १,१६,३, २,४,१, ३,९, २,६, इत्यादि

६- इंन्डिशे स्टूडियन ४,४१०,१३,१४१ उद्धृत वैo इंo भाग२ पृ० ३५२ हिन्दी १९६२

७- अथर्ववेद के सूक्त २८२, २८३

८- कशीफस्य विशफस्य ... यथाभिचक्र देवास्तथापकृणुता पुनः। ३,९,१

९- स जाङ्गिडस्य ... विष्कन्ध येन सासह ।। १९,३४,५

हरिमा :- इस रोग का प्रसंग एक सूक्त[1] में है। सायण इस सूक्त का प्रयोग हृद् रोग कामल की शान्ति के लिये बतलाते हैं। यह व्याधि पीलेपन का द्योतक है। इसका समीकरण आयुर्वेद के हलीमक रोग से किया जा सकता है जो पाण्डुरोग के आठ प्रकारों में से एक है।[2] इसका निवारण सूर्य की किरणों से भी होता था।[3]

जायान्य :- एक स्थल पर इसका, पीतरोग (हरिमा) और हाथ पैर की पीड़ा के साथ उल्लेख है।[4] त्सिमर का विचार है कि यह दोनों (पीत रोग और हाथ पैर की पीड़ा) इस रोग के लक्षण हैं, और वे इसे यक्ष्मा रोग के साथ समीकृत करते हैं।[5] परन्तु जिस प्रसंग में इनका उल्लेख हुआ है वहाँ कई रोगों में यह भी एक रोग है अत: इस रोग की प्रकृति संदिग्ध है।[6]

ग्राही :- इसका उल्लेख दो सूक्तों में हुआ है।[7] सायण इसे कुल राक्षसी कहते हैं।[8] परन्तु एक स्थल पर अज्ञात यक्ष्मा और राज यक्ष्मा के साथ इसका प्रकरण है

१- अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ।१,२२,४

२- अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते । १,२२,१
विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य अथर्ववेद और आयुर्वेद, करम्बेलकर, पृ०२०५-२१४

३- यो हरिमा जायान्योऽङ्गभेदो विसल्पक: ।।१९,४४,२
अन्यत्र ७,७६,३-५ तथा जायेन्य का २,३,५ एवं ५,६,५ में उल्लेख है।

४- वही १९,४४,२

५- आल्टिन्डिशे लेबेन, ३७७, उद्धृत वै०इं०भाग१,पृ०३२० (हिन्दी)

६- यो हरिमा जायान्योऽङ्गभेदो विसल्पक: ।
सर्वं ते यक्ष्म अङ्गेभ्यो बहिर्निर्हन्त्वा जनम् ।।१९,४४,२
द्रष्टव्य व्हिट्ने अथर्ववेद का अनु०, पृ०४४२ भी

७- ६,११२-१३

८- ग्राहिर्भुक्ष राक्षसी ३,२,५ पर टीका ।

अतः यह भी व्याधि प्रतीत होती है ।[1] इसकी दवा मंत्रशिवा (ग्रहन्) से होती थी ।[2] रोग की उत्पत्ति अशुभ फलों और देवों दानवों के शाप के कारण भी होती थी । ऐसा उनका विश्वास था । अतः सायण का उक्त कथन यथार्थ है । अन्यत्र कथन है कि मूल नक्षत्र में उत्पन्न बालक अपने बड़ों का घातक न हो तथा उसे ग्राहि के बन्धन (पाश) से पिता पुत्र और माता आदि छूट जाएँ ।[3] यह भ्रूण का नाशक रोग है ।[4] तथा अधिकतर पाप के कारण ही उत्पन्न होता है ।[5]

दौग्रिम :- इसके लिये तीन सूक्त प्राप्त हैं ।[6] ब्लूमफील्ड का विचार है कि यह गण्डमाला या उपदंश है ।[6] यह पापों के चिन्ता से उत्पन्न होता था ।[7]

आस्राव :- इस रोग के उत्पन्न होने से अधिक पेशाब का आना आरम्भ हो जाता है । इसका तात्पर्य इसके नाम (आस्राव) से भी है ।[8] इस रोग की दवा मूञ्जऔर विषाण का पौधे हैं ।[9]

१- अज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्...ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं । ३,११,१

२- यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु । ६,११३,१

३- मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् । ६,११२,१

४- स ग्राह्याः पाशान् विचृतत प्रजानन् पिता पुत्रो मातरं मु च सर्वान् । ६,११२,२

४- भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ।। ६,११३,१ ~~अथर्ववेद पृ०=३६३=१६०५~~ एवं ६,११२,३

५- द्रष्टव्य व्हिट्ने अनु० मंत्र ६,११३,१ अथर्व० पृ० ३६३,१६०५

६- ३,७, २,१४,५, २,८,१०, ४,१८,७

७- ब्लूमफील्ड सै०बु० आफ द ई०भाग ४२, पृ०३८६ ।
व्हिट्ने वही पृ० ४८,

८- करमबेलकर अथर्ववेद और आयुर्वेद, पृ०२४० ।

९- अदोऽस्ति त्वा रोगं चास्रावं चान्तिष्ठतु मुञ्ज उत् ।१,२,४

१०-

यक्ष्मा :- यह भयानक रोग था । इससे शरीर क्षाम हो जाती है । अन्यत्र इसके सौ प्रकारों का उल्लेख है ।[1] अथर्ववेद में इसे राज्यक्ष्मा और अज्ञात यक्ष्मा में वर्गीकरण किया गया है ।[2] इसका एक नाम जायेन्य भी समझा जाता है ।[3] यह समस्त आन्तरिक अंगों में व्याप्त होने वाली व्याधि है ।[4] इसकी औषधि आन्जन और गुग्गुलु आदि है । गुग्गुलु के गन्ध से यक्ष्मा वैसे ही पलायित हो जाता है जैसे तीव्रगामी मृग ।[5]

तक्मन् :- तक्मन रोग अथर्ववेद का प्रमुख रोग है एवं पांच सूक्तों[6] का प्रतिपाद्य विषय है । इसके अतिरिक्त कई मंत्रों में भी इसका उल्लेख है ।[7] इस प्रसिद्ध रोग का वर्णन अथर्ववेद के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं मिलता । इसका समीकरण ज्वर से किया गया है ।[8] इसकी सैकड़ों प्रकार की वेदनायें होती थी ।[9] इसका प्रकोप धीरे धीरे बढ़ता था । प्रथम दो दिनों में इसे उभयेद्युः[10] तथा

१- वाजसनेयी संहिता १२,९७

२- अज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् । ३,११,१

३- वै०इं० भाग २, पृ० २०३

४- सर्वं ते यक्ष्म अङ्गेभ्यो बहिर्निर्हन्त्वा जनम् ।१९,४४,२

५- यक्ष्म ते अन्तरङ्गेभ्यो बहि० । ६,८,७

५- मंत्र ६,८,७ एवं गुग्गुलोः सुरभिगन्धो...यक्ष्मा मृगा अश्वा उवेरते ।। १९,३८,२

६- १,२५, ५,२२, ६,२०, ७,११६, १९,३९

७- ४,९,८, ५,४,१-९, ५,३०,१६, ६,८,६ इत्यादि

८- व्हिट्नी पृ० २७८ । मंत्र ५,३०,१६ पर

९- शतं रोपीश्च तक्मनः । ५,३०,१६

१०- यो अन्येद्युरुभय द्युरभ्यैतीमं । ७,११६,२ द्रष्टव्य वै० इं० भाग १ , पृ० ३२८-२९

तीसरे दिन आने वाले तक्मन् को तृतीय[1] या तृतीयक कहा जाता था। अन्य दिनों के ज्वर को अन्येद्युः[2] तथा लगातार कई दिन रहने पर इसे सर्वके सदन्दि[3] नाम दिया जाता था। इतना ही नहीं कभी कभी तो यह पूरे वर्ष तक ग्रसित किये रहता था ऐसे तक्मन को शारद या हायन कहा गया है।[4] इस ज्वर का ताप अग्नि के समान जलाने वाला था[5]। तक्मन् वर्ष के बारहों महीने उत्पन्न होने वाला रोग था। यह शीतकाल, शीतोष्ण (रूर) काल, ग्रीष्म और वर्षा काल[6] में उत्पन्न होता था। इसके आक्रमण होने से शरीर लाल (अरुण) होकर अग्नि की तरह दहकती है तथा बाद में पीली होने लगती है।[7] इन सम्पूर्ण विवरणों से स्पष्ट है कि तक्मन ज्वरों का नाम है। शीतकाल में होने वाले ज्वर को शीत तक्मन् कहा जाता था तथा कफ के साथ ठंडी गर्मी के प्रभाव से उत्पन्न तक्मन रूर कहा गया है। जो शरीर में कम्पन उत्पन्न करता था।[8] इससे वर्तमान मलेरिया और इन्फ्लूएन्जा ज्वरों के विषय में कदाचित्

१- तृतीयाय नमो अस्तु तक्मने १,२५,४ तृतीयकं वितृतीयकम् सदन्दिमुतशारदम् ५,२२,१३ यश्चहायन: १६,३६,१०

२- वही ७,११६,२

३- वही ५,२२,१३

४- वही १६,३६,१०

५- अग्निरिवास्य दहत एति शुष्मिण: ६,१२० अग्निरिवा-भिदुन्वन् ५,२२,२

६- तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम् ।।५,२२,१३

७- अयं यो विश्वान् हरितान...अग्निरिवा -भि-दुन्वन्...पार शोयोविध्वंस इवा रुण: । ५,२२,२-३ विश्वारूपाणि हरिता कृणोति । तस्मै तेऽरुणाय नम: । ६,२०,३

८- यत त्वं शीतोथो रूर: सहकासावेपय: । ५,२२,१० द्रष्टव्य ब्लूमफील्ड अथर्ववेद एण्ड गोपथ ब्राह्मण, पृ०६०

औषधियों द्वारा रोगों का उपचार :- तंत्र मंत्र इत्यादि की अपेक्षा अथर्ववैदिक काल में व्याधियों का निवारण औषधियों से भी किया जाता था । सोम का पौधा इन औषधियों का राजा कहा गया है ।[१] ये औषधियाँ वर्षा के जल से पृथक् पृथक विकसित होती हैं ।[२] ये भिन्न भिन्न रंगों वाली हैं, कोई भूरी और चमकीली है तो कोई लाल एवं चिकबरी । कुछ गहरी एवं काली ।[३] इनमें से कुछ हजारों पत्तियों वाली हैं ।[४] कई औषधियों की जड़ मीठी है और कई के मध्य तथा पत्ते मीठे हैं ।[५] कुछ औषधियाँ पुष्प वाली हैं और कुछ फल वाली तथा कुछ बिना फल की ।[६] औषधियों को किसी मूल्य पर खरीदा जाता था ।[७] तत्कालीन प्रमुख औषधियों का परिचय इस प्रकार है :-

अजशृंगी :- इस पौधे को सायण ने विषाणिनी से समीकृत किया है । इसका दूसरा नाम अराटकी है[८]।

१- वीरुधां सोमो राजा । ८,७,२०

२- वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथक् जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः । ४,१५,२

३- या बभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः । असिक्नीः कृष्णा ओषधीः सर्वा अच्छावदामसि ।। ८,७,१

४- सहस्रपर्ण्यो ८,७,१३

५- मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव... मधुमत् पर्णं । ८,७,१२

६- पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत । ८,७,२७

७- अपक्रीताः ...या अभिष्कृताः । ८,७,११

८- अजशृङ्ग्यराटकी तीक्ष्णशृङ्गी व्यृषतु ।। ४,३७,४

यह गन्धवाली औषधि है और श्वेत रंग की तथा कटीली है ।[1] यह अन्य औषधियों से अधिक शक्तिशाली है ।[2] संहिता में इसे सुनहरे रंग का कहा गया है ।[3]

अपामार्ग :- इस औषधि का प्रयोग उस कृत्य के विरुद्ध किया जाता था जो क्षुधा, तृष्णा और सन्तान को मारने और जुये में हराने वाला होता था ।[4] इससे क्षौत्रिय रोग शपथ और कृत्या तथा पैशाची को दूर किया जाता था ।[5] इसको सायण ने सह देवी से समीकृत किया है । यह पौधा धरती में होता था जिसे सर्वप्रथम सूकर (सूअर) ने खोद निकाला था ।[6] इसकी सैकड़ों शाखायें थी ।[7]

आबयु :- इस औषधि का उल्लेख एक सूक्त में [8] है जिसे सायण ने सर्षप (सरसों) से समीकृत किया है । इसकी उत्पत्ति मदावती से हुई है । इसका

१- वैद्यकशब्द सिन्धु, उमेश चन्द्र गुप्त, कलकत्ता, १८८४, पृ० १७

२- इयमग्नेोषधीनां वीरुधां बीयवती । ४,३७,६

३- हिरण्ययी : ४,३७,६

४- अबत्यताम्...तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षापराजयम् । ४,३७,६-७

५- अपामार्गो प मार्ष्टु क्षौत्रियं शपथश्च यः ।
अपाह यातु धानीरप सर्वा अराय्य: ।। ४,१८,७

६- ५,१४,१

७- शतशाखा ४,१६,५

८- मदावती नाम ते माता ६,१६,२

रस कहता है ।[1] यह स्वयं नष्ट होकर दूसरों को लाभ पहुँचाती है ।[2] इसका पहला नाम अलसाला और दूसरा नाम सिलाञ्जाला है ।[3]

असिक्नि :- यह औषध्य पौधा है जो रात मे उत्पन्न होता है ।[4] यह श्वेत कुष्ठ को ठीक करता है ।[5] सूक्त में इसका आलंकारिक वर्णन प्राप्त होता है[5]। हे औषधि, किलास रोग को विनष्ट करो[6]। यह चितकबरे रंग का था ।[7]

अरुन्धती :- यह पौधा बहुत ही महत्वपूर्ण था । यह किसी प्रकार की घटना में घायल व्यक्ति को ठीक करता है । यह हड्डियों को बढ़ाने वाला[8] तथा क्षत विक्षत शरीर को भली भांति नीरोग करने वाला है ।[9] यह पौधा एक लतिका के समान होता

१- रसस्त उग्र आभ्यो । ६,१६,१

२- स हिन त्वमसि यस्त्वमात्मानमावय: ६६,१६,२

३- अल साला सि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा ।६,१६,४

४- नक्तं जातास्योषधे इदं रजनि रजय । १,२३,१

५- आ त्वा स्वो विशतां वर्ण: पराशुक्लानि पातय ।
१,२३,२

६- ~~असिक्नि-से-मुक्त~~ १,२३

७- किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् ।
१,२३,२

८- रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी । रोहयेदम रुन्धति ।।
४,१२,१

९- सं ते मज्जा मज्जा भवतु समु ते परुषा परु ।
असृक् ते अस्थि रोहतु मांस मांसेन रोहतु ।।४,२,२-४

था जो प्लक्ष, अश्वत्थ, न्यग्रोध और पर्ण जैसे वृक्षों पर चढ़ता था ।[1] अरुन्धती का रंग पीला और डंठल रोयेंदार होता था । सम्भवत: लाक्षारस इसी से निष्पन्न होता था ।[2] अरुन्धती को पीस कर उसका रस पीने से मनुष्य रोगमुक्त हो जाता था । क्योंकि यह सब प्राणियों का पालन करने वाला और उनका आश्रय स्थान समझा जाता था ।[3] जब रुद्र के बाण से पशु आहत होकर बीमार हो जाते थे, उस समय भी इसका सेवन किया जाता था ।[4] एक मंत्र में अरुन्धती का प्रयोग बैल (अनडुह्), दूध देने वाली गाय (धेनु) और अन्य चार पैर वाले पशुओं के लिये किया गया है ।[5] इस औषधि से गायें स्वस्थ होकर दूध देती थीं और मनुष्यों का यक्ष्मा दूर हो जाता था ।[6] इसका रस मीठा कहा गया है ।[7]

१- भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिराद्धवात् ।
   भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न एह्यरुन्धति ।।५,५,५
२- वृक्षं वृक्षमा रोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला ।
   ५,५,३
३- हिरण्यवर्णे सुभगे शुष्मे लोमशवक्षणे ।
   अपामसि स्वसा लाक्षे वातो हात्मा बभूव ते ।।
   ५,५,७ द्रष्टव्य व्हिट्ने, पृ० २६६ भी
४- यस्त्वा पिबति जीवति त्रायसे पुरुषं त्वम् ।
   भर्त्री हि शश्वतामसि जनानां च न्यञ्चनी ।।५,५,२
४- सा नो रुद्रस्यास्तां हेतिं दूरं नयतु गोभ्यः ।
   ६,५६,३
५- अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति ।
   अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे ।। ६,५६,१
६- करत् पयस्वन्तं गोष्ठमयक्ष्मां उत पुरुषान् ।६,५६,२
७- अरुन्धती मधुमती मिह हुवे अरिष्टतातये ।।८,७,६

आसुरी :- यह औषधि श्वेत कुष्ठ (किलास) का विनाश कर त्वचा को सुन्दर बनाती थी।[1] वैद्यक शब्द सिन्धु में इसे कफ, फुंसियों और चमड़ी के रोग का विनाशक कहा गया है।[2] सायण इसे नीली पौध। से समीकृत करते हैं। इस गुणकारी औषधि से शरीर की चमड़ी रोग रहित होकर रूपवती हो जाती थी।[3]

कुष्ठ :- यह पौधा कई स्थानों में उद्भूत है।[4] यह सोम के साथ विशेषत: पर्वतों और हिमालय (हिमवन्त्) के उन उच्च शिखरों पर उगता था जहाँ पर उत्क्रोशों के घोसले होते थे, और जहाँ से यह पूर्व में मनुष्यों के पास लाया जाता था।[5] सोम की ही भांति इसका भी तृतीय स्वर्ग में प्रसिद्ध वृक्ष अश्वत्थ के नीचे स्थान होता था। जहाँ देवगण इसका संग्रह करते थे और स्वर्णयान में इसे लाया जाता था।[6] इसे नघमार और नघारिष जैसे शुभ नामों से पुकारा जाता था। तथा जीवला और को संतान कहा जाता था।[7] यह सिर दर्द, नेत्र रोगों, शारीरिक व्याधियों और विशेषकर ज्वर को शान्त करता था।[8] यह तक्मन और यक्मा को भी दूर करता था।[9] अपने सामान्य गुणों के कारण इसका नाम विश्वभेषज रखा गया था[10]

१- आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्।
१,२४,२

२- वै० श० सि०, पृ० १२२

३- अनीनशत्किलासं सरूपमाकरत् त्वचम्। १,२४,२

४- ५,४, ६,१०२

५- यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तम:।
कुष्ठेहि तक्मनाशन...। ५,४,१-२

६- देवा: कुष्ठमवन्वत् ५,४,३ एवं ४ भी

७- त्रीणि ते कुष्ठ नामानि नघमारो नघारिष:।
१६,३६,२

८- जीवला नाम ते माता जीवन्तो नाम ते पिता।
१६,३६,४

८- शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वोरप:। ५,४,१०

६- यक्ष्मं च सर्वं नाशय तक्मानं चारसं कृधि।। ५,४,६

खदिर :- यह कड़ी लकड़ी वाला वृक्ष है जिसे वर्तमान समय में खैरा कहा जाता है। यह अश्वत्थ पर वृक्षान्तरित होकर उगता था।[1] अर न्धती नामक लता का आविर्भाव भी इसी से बताया गया है[2]।

गुग्गुलु :- त्सिमर के मत में यह किसी वृक्ष का गोंद है।[3] परन्तु अथर्ववेद में इसे समुद्र से सम्बन्धित कहा गया है।[4] गुग्गुलु की गंध(सुरभित) यक्ष्मा और शाप का नाश करने वाली बताई गई है। इसकी गन्ध से रोग उसी प्रकार भाग जाता था जिस प्रकार जंगली पशुओं से मृग।[5]

चीपुद्रु :- इस औषधि का प्रयोग घाव को ठीक करने के लिये किया जाता था।[6]

जङ्गिड :- इस पौधे का प्रयोग तक्मन, बलास, आशरीक, विशरीक, पृष्ट्यामय[7], वातज पीड़ा, और ज्वर, विष्कन्ध, संस्कन्ध[8], और जम्भ इत्यादि रोगों अथवा इनके लक्षणों के विरुद्ध इनके सुरक्षात्मक कवच के रूप में होता था।

१- अश्वत्था खदिरादधि। ३,६,१

२- खदिराद्धवातु। ५,५,५

३- आल्टि०लैबेन, २८

४- यद् गुल्गुलु सैन्धवं यद् वाप्यासि समुद्रियम।
१६,३८,२

५- न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥
विष्व चस्माद् यक्ष्मा मृगा अश्वा इवेरते।१६,३८,१-२

६- सूक्त ६,१२७ जहाँ बलास रोग के ठीक करने के रूप में उद्धृत है।

७- आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्ट्यामयम्।
तक्मानं विश्वशारदमरसाँ जङ्गिडस्करत्॥१६,३४,१०

८- विस्कन्धं येन सासह संस्कन्धमोज ओजसा।१६,३४,५

दर्भ :- यह बहुत ही शक्ति दायक तथा हृष्टपुष्ट करने वाला पौधा था।[1] इसमें प्रचुर जड़ें (भूरिमूल)[2] सहस्रों पत्तियाँ (सहस्रपर्ण) एवं अनेकों गाँठें हैं (शतकाण्डा)[3]। यह क्रोध को शान्त करने के लिये और रक्षा के हेतु प्रयुक्त होता था।[4]

तलाशा :- इस श्रेष्ठ औषधि का समीकरण कठिन है। यह वृक्षों में श्रेष्ठ है।[5]

मधुला :- यह पौधा लोगों में मधुरता लाता था।[6] यह काले साँप तथा पदाकु नामक सर्प के विष को नष्ट करता था।[7] यह मधु से उत्पन्न होता था[8]। इसकी उपादेयता के कारण मधु को जिह्वा में सदा वर्तमान रहने की कामना की जाती थी जिससे विष दूर रहे।[9]

नि-तत्नी :- इस पौधे का प्रयोग बालों को पुनः उगाने और उन्हे बढ़ाने के लिये होता था। एक मंत्र में कथन है कि हे औषधि, केशों को स्थिर रखने के लिये मैं तुमको पृथिवी से खोद कर निकालता हूँ।[10] एक मंत्र में इसका नाम केशवर्धनी दिया गया है।[11]

१- सहस्रं वीर्याणि ते (१६,३२,१)

२- अयं यो भूरिमूल: ६,४३,२

३- वही १६,३२,१

४- मन्युशमन उच्यते। ६,४३,२

५- तलाश वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तम:। ६,१५,३

६- मधु मे मधुलाकर: ५,१५,१

७- तिरश्चिराजेरसितात् पृदाको: परि संभृतम्।
तत् कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ।।७,५६,१

८- इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधु:।

९- जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।।१,३४,२

१०- तां त्वां नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि ।।
६,१३६,१

११- यां जमदग्निरखनद् दुहित्रे केशवर्धनीम् ।
तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्य: ।।६,१३७,१

पिप्पली :- इसका प्रयोग विभिन्न प्रकार के घावों को भरने के लिये होता था। यह तिरस्कृत और वातरोगों की औषधि है।[१] इसका समीकरण कठिन है परन्तु वर्तमान पीपर भी वातरोगों को शान्त करता है।

वरणावती :- सायण ने इसे औषधि कहा है। इसके सेवन से विष का निवारण होता है। यह अमृत के तुल्य है।[२] यह देव तुल्य औषधि यक्ष्मा को दूर करती थी।[३] तथा वस्त्र और काले मृगचर्म को देकर खरीदी जाती थी।[४]

सोम :- यह औषधियों का राजा है।[५] पुरोहित लोग इन्द्र को सोम देते थे।[६] सोम पान करने से विष का प्रभाव क्षीण हो जाता था।[७] इससे ज्वर नष्ट हो जाता था।[८] कुष्ठ पौधा ज्वर को शान्त करने के कारण इसका मित्र कहा गया है।[९]

इसी प्रकार अन्य औषधियां भी ज्ञात थीं जिनका नाम हरिद्रा[१०], सहस्पुष्पा (अर्क)[११], और शंखपुष्पिका आदि है।

१- पिप्पली क्षिप्तभेषज्यूतातिविद्धभेषजी।६,१०९,१
वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम्॥
६,१०९,३

२- तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम्।४,७,१

३- वरणो वारयाता...यक्ष्म दो अस्मिन्न त विष्वस्तद् देवा अवीवरन्॥ ६,८५,१

४- १,२४,२

५- सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु। ५,२४,७

६- युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे।१२,१,३८

७- स सोमं प्रथमं पपौ स चकारारसं विषम्।४,६,१

८- तक्मानमपबाधितः सोमो ग्रावावरुणः। ५,२२,१

९- ४,२०,६

१०- १,२४,२

११- ७,३८,५

२. ज्योतिविज्ञान :- ज्योतिर्-विज्ञान अथर्वों का काल में प्रचलित था क्योंकि एक स्थल पर हानिकर नक्षत्र में उत्पन्न बच्चे की शान्ति का प्रकार प्राप्त होता है। इसमें कहा गया है कि ज्येष्ठघ्नी (बड़ों के लिये घातक) नक्षत्र में उत्पन्न शिशु विचृत् और मूल बर्हण से ग्रस्त होता है।[१] इसके अतिरिक्त दो सूक्तों में भी ज्योतिष विद्या के संबंध में वर्णन है।[२]

नक्षत्र :- नक्षत्र शब्द अथर्ववेद में तारे के आशय में लगभग २० स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है।[३] क्योंकि सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रों का उल्लेख एक ही साथ हुआ है[४]। अन्यत्र सूर्य और अन्य नक्षत्रों का साथ साथ प्रसंग आता है। जहाँ उन्हें दिव्य चक्षुष (आँखों वाला) कहा गया है तथा सूर्य के साथ उन्हें यज्ञ हवि प्रदान की गई है।[५] एक जगह नक्षत्रों को ब्रह्म में समाश्रित कहा गया है।[६]

चान्द्र नक्षत्र :- चन्द्रमा का नक्षत्रों से घनिष्ट सम्बन्ध बताया गया है। चन्द्रमा नक्षत्रों का राजा था।[७] सोम या चन्द्रमा इन नक्षत्रों के केन्द्र में रहने

१- स मा वधीत् पितरं वर्धमानो मा मातरं...।६,११० ज्येष्ठघ्न्यां जातो....नक्षत्रजा ।।६,११०,१-२

२- इस वर्णन किया जा रहा है।

३- द्रष्टव्य वै० इं०, भाग २, पृ० ४५६

४- अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्।६,१२८,

५- दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्याधिपतये स्वाहा।६,१०,३

६- ब्रह्मेदं नक्षत्रं। १०,२,२३

७- चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावतु।५,२४,१०
चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृष्णो भव।६,८६,२

वाला वर्णित है ।[१] अन्य साधनों[२] से ज्ञात होता है कि सोम सभी नक्षत्रों के साथ विवाहित था किन्तु रहता केवल रोहिणी के ही साथ था, इस पर अन्य नक्षत्रों के रुष्ट हो जाने के कारण उसे अन्ततोगत्वा सभी के साथ बराबर बराबर अवधियों तक रहना आरम्भ करना पड़ा ।

नक्षत्रों की संख्या :- अथर्ववेद में नक्षत्रों की संख्या २८ दी गई है ।[३] यजुर्वेद के तैत्तिरीय[४] और काठक[५] संहिताओं में इनकी संख्या २७ है परन्तु मैत्रायणी[६] में २८ है । इसलिये वैदिक इण्डेक्स के लेखक सम्भावना करते हैं कि आरम्भ में नक्षत्रों की संख्या २८ रही होगी, जिसमें से अभिजित् (जो २७ नक्षत्रों की सूची में नहीं है) इसलिये निकल गया क्योंकि वह धुंधला अथवा अत्याधिक उत्तर में स्थित था । इसके अतिरिक्त व्हिट्ने महोदय ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि नक्षत्रों की मौलिक संख्या २७ नहीं है क्योंकि इसके लिये निर्विरोध साक्ष्य नहीं प्राप्त होते हैं और दूसरी तरफ विदेशी साक्ष्यों से २८ संख्या की पुष्टि होती है ।[७] क्योंकि चीन

१- अथ नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहित: ।१४,१,२

२- द्रष्टव्य म्यो उद्धृत ग्रिफिथ, अथर्ववेद के सूक्त, पृ० १६०, १११७

२- काठक संहिता ११३, तैत्तिरीय सं०२,३,५,१-३ उद्धृत वै० इं० भाग १, पृ० ४६०

३- अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु मे १९,८,२

४- ४,४,१०,१-३ तै०सं०

५- काठक सं० ३९,१३

६- मैत्रायणी सं० २,१३,२०

७- व्हिट्ने, ज० आ० अ०ओ०सो०, भाग ८,३६०-६१

के सिऊ (Sieou) १६ और अरब के मनाजिल की संख्या २८ ही है ।[१]

नक्षत्रों के नाम :- विवाह सूक्त में एक मंत्र में दो नक्षत्रों (मघा और फल्गुनी) का उल्लेख है[१]। यहाँ दोनों का विभिन्न फल बताया गया है । मघा नक्षत्रों में गायें मारी जाती थी तथा फल्गुनी नक्षत्र में विवाह सम्पन्न होता था ।[२] अन्य स्थलों पर ज्येष्ठघ्नी (बाद का ज्येष्ठा) तथा विचृतौ का उल्लेख है[३] ये यहाँ परस्पर घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं । अन्यत्र रेवती (बहुवचन) तथा कृत्तिकाओं का उल्लेख है ।[४]

~~कंकर-अपमर्द~~ इसके अतिरिक्त १९वें काण्ड के उत्तरार्ध में २८ नक्षत्रों की तालिका इस प्रकार है :-

१) कृत्तिकायें	१०) हस्त	१९) अभिजित्
२) रोहिणी	११) चित्रा	२०) श्रवण
३) मृग शिरस्	१२) स्वाति(पुलिंग)	२१) श्रविष्ठायें
४) आर्द्रा	१३) विशाखे	२२) शतभिषज्
५) पुनर्वसू	१४) अनुराधा	२३) द्वया प्रोष्ठपदा
६) पुष्य	१५) ज्येष्ठा	२४) रेवती
७) आश्लेषायें	१६) मूल	२५) अश्वयुजौ
८) मघायें	१७) पूर्वा आषाढायें	२६) भरण्य
९) पूर्वा फल्गुन्यौ (सिचु)	१८) उत्तरा आषाढायें	

१- व्हिट्ने आ० ए०लि० सं० २, ४०६-११

२- मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनी व्युह्यते ।।१४,१,१३

~~३~~- इस पर व्हिट्ने का अनुवाद, पृ० ७४२ पर द्रष्टव्य

३- ज्येष्ठघ्न्यांजातो विचृतो र्यमस्य मूल बर्हणात् । ६,११०,२

४- रेवतीगृधिता: कृत्तिका स्कन्धा घर्मो वह: । ६,७,३

सामान्य परिचय :-

कृत्तिकायें :- कृत्तिकाओं का दो स्थानों पर उल्लेख हुआ है[१]। कृत्तिका शब्द कृत् (कातना) धातु से बना है, अतः इसका अर्थ शायद जाल है। इस नक्षत्र समूह के अन्तर्गत सात तारे हैं जिनमें अभ्रयन्ती, मेघयन्ती और वर्षयन्ती भी है।[२]अतः इन नक्षत्रों का सम्बन्ध वर्षा से है। इसके अतिरिक्त इसके विषय में अन्य विवरण नहीं प्राप्त है।

रोहिणी :- नक्षत्रों की नामावली में रोहिणी का भी स्थान है। यह रक्त वर्ण का तारा है। सूर्य (रोहित) की पत्नी के रूप में रोहिणी का उल्लेख है। जिसका तात्पर्य भी लाल वर्ण से ही है। परन्तु अन्य तारों से इसका क्या सम्बन्ध था कोई भी तथ्य प्राप्त नहीं है।

मृगशिरस् :- इसका उल्लेख एक ही बार हुआ है[३]। यह मन्द ज्योति वाला तारक पुंज प्रतीत होता है। व्हिट्ने ने सम्भावना की है कि मलिन प्रकाश के कारण ही अथर्ववेद के शान्तिकल्प में इसे अन्धका (अन्धा) कहा गया है।[४]

आर्द्रा :- एक उज्ज्वल तारे का नाम है।

१- पूर्वाद्धृत ६,७,३ एव सवह मग्ने कृत्तिका...।१६,७,२

२- तै०सं० ४,४,५,१ काठक सं० ४०,४ तै०ब्रा० ३,१,४,१

३- १६,७,२

४-व्हिट्ने, अ०वे० लिं०सं०, भाग २, पृ० ६०१

पुनर्वसू :- यह मिथुन राशि के तारे का द्योतक है । पुनर्वसू का अर्थ होता है जिन्होंने फिर से सम्पत्ति प्राप्त की ।[1]

पुष्य :- यह कर्क के शरीर में स्थित कुछ मन्द प्रकाश वाले तारों के समूह का द्योतक है । इस समूह का कोई भी तारा प्रखर नहीं है ।[1]

आश्लेषायें :- इसका अर्थ आलिंगन करने वाला है । इसमें अन्तर्गत कई नक्षत्र हैं ।

मघायें :- यह हंसियां का द्योतक है । यह शुभ नक्षत्र है ।[2]

फल्गुन्यौ :- ये युगल नक्षत्र पुंज है जिन्हें पूर्व और उत्तर के रूप में विभाजित किया गया है । यह उज्ज्वल वर्ण के हैं ।

हस्त :- यह सम्भवत: पांच नक्षत्रों का पुंज है ।

चित्रा :- यह स तारा है ।

स्वाती :- स्वाती का अर्थ स्वाति के रूप में हुआ है ।[4]

विशाखे :- यह तुला राशि के दो उज्ज्वल तारों का नाम है । अथर्ववेद में राधो विशाखे (विशाखे समृद्धि है) पद का मिलना आश्चर्यजनक है । किन्तु राधा सम्भवत: बाद के अनुराधा नक्षत्र के नाम पर आधारित एक आविष्कार मात्र प्रतीत होता है जिसका त्रुटिपूर्ण रूप जो राधा के बाद अथवा राधा का अनुगमन करता है अर्थ मान लिया गया है ।[5]

१- व्हिटनी ओ० ए०लिं०स० भाग २, पृ० ४०३ नोट १
२- वै०इं० भाग १, पृ० ४६८
३- वही वै०इं०, भाग १, पृ० ४६८
४- स्वाति तुलो में अस्तु । १६,७,३
५- व्हिटने अथर्ववेद का अनुवाद, ६०८

अनुराधा :- यह समृद्धिदायक नक्षत्र है ।

ज्येष्ठघ्नी :- (ज्येष्ठ लोगों का वध करने वाला) या ज्येष्ठा वृश्चिक का केन्द्रीय तारा है ।

विचृतौ :- (दो मुक्त करने वाले) मूल (जड़) अथवा मूलबर्हण (उन्मूलन) । ये तारे अशुभ माने गये हैं । तथा लोगों को अपने पाश में बांधते हैं ।

आषाढायें :- ये दो तारों के समूह हैं । (पूर्वा और उत्तरा)

अभिजित् :- यह प्रकाशमान् तारा है ।

श्रवण :- यह उज्ज्वल तारा है ।

श्राविष्ठायें :- (सर्वाधिक प्रसिद्ध) अथवा बाद की धनिष्ठायें (सर्वाधिक सम्पन्न) एक हीरे के आकार का नक्षत्र पुंज है ।

शतभिषाज् :- शत भिषज् (सौ चिकित्सकों से युक्त) के चतुर्दिक स्थित तारों की संख्या अनुमानत: सौ है ।[१]

प्रोष्ठपदायें :- (स्त्री बहुवचन) बाद के भद्र-पदाओं का द्योतक है ।

रेवती :- इसका अर्थ सम्पन्न है । यह बहु-संख्यक तारों के पुंज का नाम है ।

अश्वयुजौ :- यह दो अश्वों को सनद्ध करने वाला यह मेष राशि के दो तारों का द्योतक है । इसके बाद के नाम अश्विन्यौ और अश्विनी हैं ।

भरण्य :- एक छोटे से त्रिभुज के आकार का नक्षत्र है ।[२]

१- वै० इं०, भाग १, पृ० ४७१

२- उक्त सभी नक्षत्रों का संक्षिप्त परिचय वैदिक इं० के आधार पर किया गया है। क्योंकि अथर्ववेद संहिता से इनके नाम के अतिरिक्त विशेष प्रकाश नहीं पड़ता ।

३. शरीर विज्ञान :- अथर्ववेद के कुछ मंत्रों से ज्ञात होता है कि उस समय के लोगों को शरीर के अनेक अंगों का ज्ञान था । एक सूक्त में मनुष्य के विविध अस्थि-संस्थानों का वर्णन है ।[१] इसमें पार्ष्णी (तलवे), गुल्फौ (एड़ी), प्रतिष्ठा (स्थान), अष्ठीवन्तौ (घुटने), जंघे, जानूनी सन्धि (घुटने का जोड़ना), श्रेणी, ऊरू (जांघे की हड्डी), ग्रीवा (हवा की नली), स्तनौ (छाती), कफोडौ (कन्धे की दो हड्डियां), पृष्टि (पीठ की हड्डियां), ललाटम्, वकाटिका (सामने की मध्य हड्डी), कपाल (सिर की हड्डी) कीकस (सुषुम्ना) आदि प्रमुख हैं । इसी प्रकार एक दूसरे सूक्त में प्रमुख अंगों का संदर्भ है ।[२] इसमें यक्ष्मा नामक रोग को सभी अंगों से भगाने का अभिचार किया गया है । हे यक्ष्मा, मैं तुझे अक्षि (आंख) नासिका (नाक), कर्ण (कान), शीर्ष, ग्रीवा, जिह्वा, उष्णीहा (गर्दन का पिछला भाग), कीकस (पीठ की रीढ़) इत्यादि अंगों से भगाता हूँ । नाड़ी ज्ञान भी इस समय में हो गया था । बहुत से स्थानों पर गवीनिका नाड़ी का उल्लेख है ।[३] जिसे सायण ने

१- १०,२

२- अक्षिभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ।
ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्य: कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
२,३३,१-२

३- १,३,६ इत्यादि ।

योनि के समीप रहने वाली नाड़ी कहा है ।[१] एक मंत्र में अष्टौ मन्यें:का उल्लेख है जिसे सायण ने गर्दन की आठ नसें कहा है ।[२] अन्यत्र स्नायुओं या सूक्ष्म शिराओं का उल्लेख है ।[३] शिरा को हिरा कहा जाता था जिसका कदाचित लाल रंग का रुधिर था ।[४] एक स्थान पर सैकड़ों धमनियाँ और हजारों शिराओं (हिरा) का प्रसंग प्राप्त होता है ।[५] सायणनेधमनी का हृदय गत प्रधान नाड़ी और शिरा को शाखा नाड़ी कहा है ।[६] प्राण की संख्या सात कही गई है ।[७] कीथ महोदय सात प्राणों में आँख, कान, नाक और स्वाद आदि इन्द्रियों को मानते है ।[८] प्राण के साथ अपान व्यान और उदान शब्द भी मिलते हैं ।[९] प्राण आत्मा का बौद्धिक रूप है जो कहीं जगह काल सत्ता से भी समीकृत किया गया है ।[१०]

१- गवीनिके योनेः पार्श्ववर्तिन्यौ...नाड्यौ सायण मंत्र १,३,६ पर

२- २,१२,७ पर सायण भाष्य

३- ७,५०,६, ११,८,११

४- अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः।१,१७,१

५- शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम् । १,१७,३

६- हृदय गतानां प्रधाननाडीनाम् शिराणां शाखा नाडीनाम् । सायण सूक्त १,१७

७- सप्त प्राणान् । २,१२,७

८- कीथ,ए०बी०, फिलॉसोफी आफ द वेद, भाग ३२, पृ० ३५३

९- प्राणप्रनौ व्रीहियवौ ११,४,१३ प्राणायुतो मेपानो-युतो मे व्यानायुतोहं सर्वः १६,५१,१

१०- प्राणो ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
११,४,१५

४. रसायन विज्ञान :- अथर्ववेद में आयुर्वेद के साथ ही रसायन विज्ञान के विषय में भी सामग्री प्राप्त होती है। डा० प्रफुल्ल चन्द्र राय के अनुसार अथर्ववेद के आयुष्यानि सूक्तों से रसायन शास्त्र की उत्पत्ति हुई। इससे संबन्धित सूक्तों में उन्होंने तीन सूक्तों से उद्धरण दिये हैं।[१] इनमें से एक सूक्त में नाना दुखों से मुक्ति के लिये शंख मणि बांधने का विधान किया गया है। देवों की सुक्तियाँ हैं (कृशन) हुईं जल में आत्मा के साथ रहती हैं। उसे मैं तुम्हें जीवन में वर्चस बल और सौ वर्ष की आयु प्राप्त करने के लिये बाँधता हूँ। यह सूक्ता मणि तुम्हारी रक्षा करे[२] एक दूसरे सूक्त में दीर्घायुष्य के लिये हिरण्य मणि धारण करने का प्रसंग है।[३] तीसरे सूक्त में दानवों को भगाने वाली सीस मणि का उल्लेख है।[४] सीसे को वरुणने मंत्रसिद्ध किया है, सीसे का अग्नि पक्ष करता है, इन्द्र ने मुझे सीस प्रदान किया है। यह निश्चय ही यातु (अभिचार) का नाशक है।[५] इस प्रकार अथर्ववेद में रसायन शास्त्र की भावना शंख, हिरण्य और सीस में निहित है।[५]

१- राय, पी०सी०, ए० हि० आफ हिन्दू कैमेस्ट्री, भाग २, पृ० ६-७ (भूमिका), कलकत्ता, १६०२

२- देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्वन्तः।
तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय
शतशारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु ।। ४,१०,७

३- आयुषे त्वा वर्चसे त्वौजसे च बलाय च।
यथा हिरण्य तेजसा विभासासि जनाँ अनु।।१६,२६,३

४- सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति।
सीसं म इन्द्र प्रायच्छत् तदङ्ग यातुचातनम्।।१,१६,२

५- राय, पी०सी०, वही, पृ० ७ (भूमिका)

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में रस शब्द भी प्राप्त होता है। इस संहिता के सात स्थानों में इस औषधियों से निकाला हुआ तरल पदार्थ के रूप में वर्णित है।[१] एक मंत्र में औषधि को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि वह जल और वनस्पतियों का प्रथम रस है, वह सोम का भ्राता ~~तथा हिरण्य का~~ हिरण का वीर्य है।[२] एक स्थान पर मरुद्गण औषधियों में रस सींचने वाले कहे गये हैं।[३] प्यास बुझाने के एक कृत्य[४] में पार्थिव रसों के द्वारा एक व्यक्ति में आयुष्य लाने के लिये देव प्रार्थना की गई है।[४] अन्यत्र मधु मिला कर बनाये गये एक रस विशेष का वर्णन है जो तीव्र तथा प्राण की रक्षा करने वाला कहा गया है।[५] आब्यु पौधे (सर्षप) के रस को कड़वा कहा गया है जिसका प्रयोग आँख के रोग को दूर करने के लिये किया जाता था।[६] एक मंत्र में शण का उल्लेख है जो अन्न (कृष्य) के रस से तैयार किया हुआ तरल पदार्थ है। इससे विष्कन्ध नामक रोग दूर किया जाता था।[७] इस प्रकार अथर्ववेद हिन्दू रसायन विज्ञान और आयुर्वेद के पाठकों के लिये बहुत ही रूचिकर है क्योंकि यह इन विषयों की सूचना का प्राचीनतम भण्डार है।[८]

१- २,४,५. २,२६,१. ३,१३,५. ४,४,५. ४,२७,२
 ६,१६,१. ८,४,५

२- अपां रस प्रथमजाऽथो वनस्पतीनाम् ।
 उतो सोमस्य भ्रातास्युताशिमसि वृष्ण्यम् ।।४,४,५
 एषा पां रस औषधीनां घृतस्य । ८,४,५

३- य आ सिञ्चन्ति रसमोषधीषु पुरो दधे मरुत:
 पृश्निमातॄं । ४,२७,२

४- पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो बले ।२,२६,१

५- तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह
 वर्चसा गमेत् । ३,१३,५

६- रसस्त उग्र आब्यो । ६,१६,१ द्रष्टव्य कौ०सू०३१,१

७- शणश्च मा जङ्गिडश्च मा विष्कन्धादभि रक्षताम्।
 अरण्यादन्य आभृत: कृष्या अन्यो रसेभ्य:।।२,४,५

८- राय, पी०सी०, वही, पृ० ७ (भूमिका)

५. गणित विज्ञान :- अथर्वेद में स्थान स्थान पर गिनातियों का उपयोग हुआ है।

एक: ४,२,२. ६,३६,३. ८,४,३

एकादश १६,२७,११. १६,२३,८. ५,१६,११

एकोनविंशति १६,२३,१६

एकशतम् ३,६,६. ४,१८,१२. ७,१२०,३

द्वि: ५,२२

द्वितीय: १३,५,३. १८,१५,४

द्वादश ४,११,११. १०,८,४. ११,८,२२

त्रि ५,२,३. ८,३,११७१२, २,१६.

त्रिंशत ५,१५,३. ६,३१,३

त्रय: २०,१२६,८. ४,३,१

त्रयस्त्रिंशत ६,१३६,१. १०,७,१३

त्रयोदश १६,२३,१०

चतस्र २,६,१. ३,२२,५. ५,३,१

चतु: ११,२,६

चत्वार: १,३१,२. १६,४७,४

चत्वारि ८,२,२१. ६,१५,२७. १४,१,६०

चतुर्दश १६,२३,११.

चत्वारिंशत् ५,१५,४. १६,४७,४

चतुर्थ: १३,५,३

चतुर्थीभि् १५,१३,७

पञ्च ५,१५,५

पञ्चदश ११,१,१६

पञ्चाशत् ५,१५,५. ६,२५,१ १६,४७,४

षट् ४,११,१. ५,३,६. ८,६,७

षट् सहस्रा: ११,५,२

षष्टि ५,१५,६. १०,८,४. १६,४७,४

षोडश १६,२३,१३

षोडशी ११,६,११

सप्त २,१२,७. ४,६,२

सप्तदश १६,२३,१४

सप्तति: ५,१५,७. ६,२५,२. १६,४७,३

अष्ट १६,२३,५

अष्टम: १३,५,५

अष्टादश १६,२३,१५

नव १६,२३,६

नवति: ५,१५,६. ६,२५,३. १६,४७,३

नवम: १३,५,५

दश ५,१४,१०

दशम: १३,५,५

दश शता: ५,१८,१०

शतम् १,१०,२. २,३,२ इत्यादि

शतानि २०,१२७,२

सहस्रम् १,२०,२. २,६,३ इत्यादि

अयुत: १६,५१,१

अयुतम् १६,५१,१. ८,२,२१. १०,८,२४

अयुत दस हजार के बराबर होता है ।

अर्बुदस्य २०,६१,१२

इससे ज्ञात होता है कि इस समय लोगों को गणना का सौ, सहस्र तक ही नहीं लाख और करोड़ और उससे भी अधिक ज्ञान था । इसके अतिरिक्त इस काल में द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ इत्यादि एक के भागों का भी ज्ञान था । गिनतियों के ज्ञान से नाप तौल का भी प्रचलन हो चला था । एक स्थान पर गल्ले के वितरण के प्रसंग[1] में मात्रा शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अभिप्राय कोई नाप विशेष ज्ञात होता है ।

१- त्रिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्या ।।
३,२४,६

साहित्यिक जीवन

अथर्ववेद पूर्णतया एक धार्मिक ग्रन्थ है । इससे तत्कालीन साहित्य का कोई ज्ञान प्राप्त नहीं होता । केवल एक दो स्थानों पर कुछ वार्तालाप सा दिया गया है जिनसे सम्भवत: कालान्तर में सांगोपांग आख्यानों का विकास हुआ ।

आख्यान सूक्त: - अथर्ववेद के कुछ संवाद सूक्तों [१] में महाकाव्य तथा नाटक की अन्त: संगति का पूर्वाभास हमें मिलता है । ओल्डेनवर्ग के अनुसार ये आख्यान-सूक्त हैं । उनका कथन है कि भारतवर्ष में महाकाव्य की कविता का प्राचीनतम रूप हमें गद्य और पद्य के मिश्रण के रूप में मिलता है जिसका संवाद पद्य में तथा उसकी भूमिका और प्रसंग गद्य में गठित होता था [२] । ओल्डेनवर्ग के इस मत का विद्वानों ने चिरकाल तक आदर किया । परन्तु मैक्समुलर, सिलवांलेवी[३] और विन्टरनित्स[४] ने यह सुझाव दिया कि इन आख्यान सूक्तों में जो सम्भवत: मूल में नाटकीय थे, गद्य का कहीं आभास नहीं होता । ये संवाद सूक्त धार्मिक उत्सवों पर खेले जाने वाले नाटकीय वार्तालाप हो सकते हैं । विन्टरनित्स महोदय का कथन है कि ये संवाद साहित्य भारत का प्राचीन वीरगाथा काव्य है और इनमें नाटकीय तथा आख्यानतत्व यह सिद्ध करते हैं कि ये गाथाएं महाकाव्य साहित्य तथा नाटकीय साहित्य का मूलस्रोत हैं। यदि आख्यान से महाकाव्य विकसित हुए तो अभिनय आदि से नाटक [४] । उक्त कथन में जो भी सत्य हो, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये सूक्त अंशत: नाटकात्मक और अंशत: आख्यानात्मक हैं ।

१- १८,१, १४,२

२- ओल्डेनवर्ग, उद्धृत - विन्टरनित्स हि०आफ०इं०लि०, भाग १, पृ० ८८

३- सभी उद्धृत वैदिक साहित्य की रूपरेखा ,पाण्डेय और जोशी, पृ० ७६

४- विन्टरनित्स, हि० आफ इं०लि०, भाग १, पृ० ८८-८९

यम यमी का संवाद :- अथर्ववेद के अष्टादश काण्ड का प्रथम सूक्त संवाद के रूप में आख्यानकला का एक बहुमूल्य अंश है । एक युग्म भाई बहन से मनुष्य जातिकी उत्पत्ति की प्राचीन कथा का वार्तालाप इस संवाद में छिपा है । यमी अपने भाई यम को व्यभिचार के लिये प्रलुब्ध करती है ताकि मनुष्य जाति का बीज लुप्त न हो जाए । वासना और आसक्ति की भावना से यमी अपने भाई को प्रेम करने के लिए बाध्य करती है । किन्तु कोमल और मधुर वाणी द्वारा भाई अपनी बहन के प्रस्ताव की निन्दा करता है तथा इस सगोत्र सम्बन्ध को महर्षियों के विधानों द्वारा अवैध बता कर निराकरण करता है । यमी कहती है, "यम की इच्छा मुझ यमी में आयी है कि साथ साथ योनि में संपृक्त हों, मैं अपने शरीर को प्रसन्नता से उसे दूंगी, जैसे स्त्री अपने पति को, हम दोनों रथ के पहिये की तरह चलें[१] ।" यम के निराकरण करने पर यमी अधिकाधिक क्षुब्ध होती गई और अन्तमें वह इन शब्दों में फूट पड़ी, "तुम पुरूषत्वहीन हो, तुममें पुरूषोचित भावनायें तथा भावुक हृदय नहीं है ।"[२] यम ने उत्तर दिया कि मैं तेरा शरीर अपने शरीर से स्पर्श नहीं करूंगा । क्योंकि लोग उस व्यक्ति को पापी कहते हैं जो अपनी बहन के पास जाता है । यह मेरे मन और हृदय के विपरीत है कि एक भाई बहन की शैया पर सोवे ।[३] अन्त में यम यह कहता है कि हे यमी, तू दूसरे पुरूष का लिबुजा वृक्ष की तरह आलिंगन कर, वह तुम्हें चाहे और तुम उसे ।[४]

सूर्या-सूक्त :- यह सूक्त भी आख्यान काव्य में गिना जा सकता है ।[५] इसमें सूर्या के विवाह का आख्यान प्रस्तुत है, जिसमें कुछ शब्द अश्विन् कुमारों तथा सूर्या को संबोधित करके कहे गये हैं और इस विवाह के प्रसंग में यत्र तत्र एक दो आशीर्वादात्मक मंत्र भी जोड़ दिये गये हैं ।

१- यमस्य मा यम्यं काम आगन् त्समाने योनौ सहशेयाय ।
   जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ।। १८,१,८
   द्रष्टव्य ह्विटने अनुवाद, पृ० ४१७

२- बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम । १८,१,१५

३- न वा उ ते तनूं तन्वा सं पपृच्यां पापमाहुः स्वसारं निगच्छात् ।
   असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय ।। १८,१,१४

४- अन्यमू षु यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ।
   तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा ।। १८,१,१६,

५- प्रो० विन्टरनित्स, हि० आफ इं० लि०, भाग १, पृ० ६३

आख्यानों के अतिरिक्त अथर्ववेद में कुछ पर्याय-सूक्त भी प्राप्त होते हैं।[1] ये सूक्त अधिकांशत: गद्य शैली में हैं जिनमें रहस्यात्मक कथानक प्राप्त होते हैं। ये कथानक परिवर्ती साहित्य के बीज मात्र ज्ञात होते हैं।

अथर्ववेद में कुछ स्थलों पर[2] इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी का उल्लेख मात्र है। इतिहास, पुराण के उद्धरण से कालान्तर के पुराण साहित्य की ओर संकेत मिलता है। गाथा धार्मिक या याज्ञिक प्रचलन का सारांश व्यक्त करने वाला पद्य है।[3] वह गाथा जो नाराशंसी के विशेषण के रूप में वर्णित हुई हो तो उस दशा में वह उदारदानी की प्रशस्ति होनी चाहिये। क्योंकि अथर्ववेद के एक सूक्त[4] में नाराशंसी के सम्बन्ध में कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त होता है। उसमें कहा गया है, "हे, मनुष्यों, आप लोग इस स्तवन की जाने वाली नाराशंसी को सुनें।"[5] यह कह कर रूशमों के राजा द्वारा दिये गये एक ऋषि को दान का वर्णन किया गया है। उसने ऊँटों द्वारा खिंचे जाने वाले बीस रथों, जिन पर वधुएं भी बैठी थीं, दिया।[6] इसके अतिरिक्त उसने उस ऋषि को सुवर्ण के सौ निष्कों, दस मालाओं, तीन सौ तीव्रगामी घोड़ों और दस हजार गायों का प्रदान किया था।[7]

१- ११,५,८,१०, ६,६, उदाहरण के लिये सूक्त ८,१० में सृष्टि विषयक स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है।

२- स बृहतीं दिशमनुव्यचलत्। तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसी-चानुव्यचलन।। १५,६,१०-११

३- द्रष्टव्य वै० इं० भाग १, पृ० २४६-५० (हिन्दी)

४- २०,१२७

५- इदं जना उप श्रुत नाराशंस स्तविष्यते। २०,१२७,१

६- उष्ट्रा यस्य प्रवाहणो वधूमन्तो द्विर्दश।
वर्ष्मा रथस्य नि जिहीडते दिव ईषमाणा उपस्पृश।। २०,१२७,२

७- एष इषाय मामहे शतं निष्कान् दश स्रज:।
त्रीणि शतान्यर्वतां सहस्रा दश गोनाम्।। २०,१२७,३
इस सूक्त के अनुवाद के लिये ग्रिफिथ के "हिम्स आफ अथर्ववेद" भाग २, पृ० ४३३-३४ से सहायता ली गयी है।

२. कलात्मक जीवन

अथर्ववेद संहिता से तत्कालीन समाज के सौन्दर्यात्मक एवं कलात्मक जीवन का अप्रत्यक्ष रूप से ज्ञान प्राप्त होता है ।

(१) काव्य कला :- अथर्ववेद संहिता आर्यों के प्राचीन काव्य कला का बोध कराती है । इसमें काव्यकला के कुछ अलभ्य रत्नों की उपलब्धि होती है । कई बार तो इन वर्णनों की चित्रमयता और भाषा की स्वच्छता इतनी सुन्दर होती है कि वे एक गीतिकाव्य सा प्रतीत होते हैं । इसके लिये एक दो सुन्दर उपमाएँ पर्याप्त होगीं । एक मंत्र में घायल व्यक्ति के रुधिर प्रवाही नाड़ियों का वर्णन है जो समस्त रुधिर निकल जाने पर वैसे ही शिथिल हो गई हैं जैसे बिना भाई की कुआँरी बहन की कान्ति (वर्चस्) मलीन हो गई हो ।[१] अपमानित ब्राह्मण का वह बाण विष बुझे बाण की तरह और उड़ने वाले सर्प (पृदाकु) की तरह भयंकर होता है ।[२] अन्यत्र अदिति से प्रार्थना की गई है कि वह स्फूर्ति युक्त चरवाहों की भाँन्ति पक्व (पका हुआ हव्य द्रव्य) की रक्षा करे ।[३]

अथर्ववेद का पृथिवीसूक्त तत्कालीन काव्यकला की सत्यता का आकर्षक रूप प्रस्तुत करता है ।[४] इसमें पृथिवी का वात्सल्य, उसकी निसर्गता और विशालता का हृदयग्राही वर्णन है । अथर्ववेदीय ऋषि ने पृथिवी को बाल सुलभ प्यार दुलार से माँ के रूप में सम्बोधित किया है ; "हम जैसे पुत्रों को माता भूमि दूध दे । भूमि मेरी माता है तथा मैं पृथिवी का पुत्र हूँ ।"[५] यहाँ देश प्रेम संबंधी भावनाओं के बीज वर्तमान हैं, जो जन्म-भूमि को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए उत्तरदायी हैं और इन्हीं के फलस्वरूप सभी लोग मातृभूमि को देवत्व प्रदान कर उसके प्रतीकों की पूजा प्रारम्भ कर दिये ।[६] एक मंत्र में पृथिवी की प्राकृतिक सुन्दरता का वर्णन है,

---

१- अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहित वाससः ।
अभ्रातर इव जायामस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः ।। १,१७,१

२- इषुरिव दिग्धा नृपते पृदाकूरिव गोपते ।
सा ब्राह्मणस्येषुर्घोरा तया विध्यति पीयतः ।। ५,१८,१५

३- सा नो देव्यदिते विश्ववार इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्वम् । १२,३,११

४- सूक्त १२,१ की महत्ता डा० राजबली पाण्डेय ने ना०प्र०पत्रिका, वर्ष ६३, पृ० २३४-३५ पर दर्शायी है ।

५- सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः । १२,१,१०
माता भूमिः पुत्रो हं पृथिव्याः । १२,१,१२

६- द्रष्टव्य डा० राजबली पाण्डेय, ना०प्र०प०, वर्ष ६३, पृ० २३४-३५

हे पृथिवी, तुम्हारी चोटियां, हिम शिखर और जंगल हमारे लिये आनन्दवर्धक हों और हम भूरी, काली, लाल तथा विभिन्न रूपों वाली इन्द्र द्वारा रक्षित अचला भूमि पर अविजित, सुरक्षित और स्वस्थ रहें।"[1] इसके पश्चात के एक मंत्र में पृथिवी की व्यापकता और उसकी अखंडता का संकेत मिलता है। "हे पृथिवी, तुम पर उत्पन्न मनुष्य तुम पर ही विचरण करते हैं, तुम दो पैर वालों और चार पैर वालों का पालन करती हो, तुम्हारी ही ये मानवों की पांच जातियां हैं जिनके लिये सूर्य अपनी अमृत सदृश रश्मियों को फैलाता है।"[2] एक अन्य मंत्र में पृथिवी की ऐश्वर्य-सम्पन्नता का मनोरम वर्णन है। "जिस पर मनुष्य विभिन्न स्वरों में गाते और नाचते हैं, जिस पर युद्ध करते हैं तथा जिस पर युद्ध के नगाड़ों का घोष होता है ऐसी वह भूमि हमारे शत्रुओं को दूर करे तथा मुझे शत्रु रहित करे।"[3]

इसके अतिरिक्त क्षत्रियों से सम्बन्धित सूक्तों में सबसे सुन्दर कृति अथर्ववेद के युद्ध गीत हैं। और उनमें भी विशेषत: योद्धाओं को युद्ध के लिये उत्साहित करनेवाले गीत हैं। "हे नगाड़े (दुन्दुभी), तू गरजते हुए सांड़ के समान घोर भयंकर शब्द कर और शत्रु के हृदय बेध डाल जिससे कि शत्रुगण अपने गांव छोड़ छोड़ कर भाग जाएं।"[4] अथर्ववेद का वरुण सूक्त इतना अच्छा है कि, "सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में कहीं भी ऐसा स्थल नहीं है जहां दैवी सर्वज्ञता को इतने प्रभावपूर्ण शब्दों में वर्णित किया गया हो।"[5] "जो देवों का अधिपति शासक स्वयं बहुत बड़ा है, जो सबको ऐसे देख रहा है मानो उसके पास ही खड़ा हो, जो पुरुष गुप्त रूप से विचारता या जानता है वह सब (वरुण) जानता है, जो खड़ा है, चलता है और दूसरों को ठगता है, जो छुप छुप कर कहीं जाता है, जो दूसरों को भारी पीड़ा देने आदि अत्याचारों को करता है और दो पुरुष एक साथ बैठ कर बातें करते हैं, सब का शासक वरुण भी उन दोनों के साथ तीसरा हो कर उन की गुप्त बातों को जानता है।"[6]

१- गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतो अहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥ १२,१,११

२- त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पद:।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥ १२,१,१५

३- यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबा:।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभि:॥ १२,१,४१

४- वृषेव यूथे सहसा विदानो गव्यन्नभि रुव सन्धनाजित्।
शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान् प्रच्युता यन्तु शत्रव:॥ ५,२०,२

५- रौथ, उद्धृत विन्टरनित्स - हि० आफ इं० लि०, भाग १, पृ० १२७, कलकत्ता

६- बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति। य स्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदु:॥ यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति य:

भाषा और छन्द के विषय में। भाषा-प्रकार और छन्दों का अधिकांशत: प्रतिच्छाया है, यद्यपि अथर्ववेद में परतर रूपों का भी प्रयोग हुआ है। अध्याय पन्द्रह सम्पूर्ण गद्यात्मक है, और अध्याय सोलह (जिसका अधिकांश गद्य में है) में, कुछ अन्य स्थलों की भांति गद्य-स्पर्श मिलता है और यहां यह भेद करना कठिन है कि एक उदात्त गद्य और सामान्य छन्द में विभाजक रेखा क्या हो सकती है।[१]

संगीत-कला :- वैदिक काल से अब तक संगीत का निरन्तर इतिहास प्राप्त होता है। सबसे प्राचीन प्राप्त मानव संगीत संहिता सामवेद है।[२] जिसकी बाद में हजारों शाखाएं हो गईं।[३] अथर्ववेद में सामवेद का कई स्थलों पर उल्लेख है। एक स्थल पर साम गान का प्रसंग है।[४] जहां सामग संरक्षा के हेतु गाया गया है। सामवेद प्राय: यज्ञों के अवसर पर गाया जाता था। गाथा शब्द भी कई स्थलों में प्रयुक्त हुआ है।[५] जो गीत के अर्थों में विदित होता है।[६] सूर्या के विवाह में उसके वस्त्र को गाथा से परिष्कृत किया हुआ कहा गया है।[७] ये गाथाएं विवाह के समय आनन्दप्रद होती थीं।[८] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार गाथाएं धार्मिक होती हुई भी ऋक् यजुष् से भिन्न होती थीं।[९] अत: गाथाएं यज्ञ विषयक (यज्ञ गाथा) संगीत हैं। गेय गीतों के एक दूसरे प्रकार को नाराशंसी कहा जाता था। नाराशंसी का अर्थ होता है मनुष्यों की प्रशस्ति गाने वाला मंत्र। नाराशंसी को उपयुक्तत: महाकाव्य

१- द्रष्टव्य विन्टरनित्स - हि० आफ इं०लि०, भाग १, पृ० १०५-०६
२-डा० के०सी० पाण्डेय - इन्डियन एस्थेटिक, भाग १, पृ० ५१२, वाराणसी
३- सामवेदस्य किल सहस्रभेदा भवन्ति। उद्धृत वही पृ० ५१३
४- २,१२,४ सामगेभि:' सायण उद्गात्रादि'
५- ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते। ७,५६,१
५- १०,१०,२०,१४,१,७. १५,६,११. १६. २०,१०३,१
६- वै० इं०, भाग १, पृ० २४६
७- सूर्याया भद्रमिद् वासो गाथयैति परिष्कृता। १४,१,७
८- मैत्रायणी सं०, ३,७,३
९- वै०इं०, भाग१, पृ० २५०

का एक स्रोत माना जा सकता है जिसका लिखे जाने की अपेक्षा गाकर सुनाने में ही अधिक उपयोग होता था ।[1] इसके अतिरिक्त एक मंत्र से ज्ञात होता है कि विभिन्न सुन्दर पदार्थों की अधिष्ठातृ देवी भूमि पर मनुष्य विभिन्न लयों (व्यैलबा) में गीत गाता है और नाचता है ।[2] दूसरे मंत्र में वैदिक ऋषि ने बादलों की गर्जन को मरुद्गणों का गीत कहा है । वर्षा के लिए मरुद्गणों से प्रार्थना की गई है कि, हे मरुद्गण, आप लोग आनन्द में गान करते हुए प्रजा जनों को मेघों का दर्शन करावें और जल के वेगवान प्रवाह नाना स्थानों पर उमड़ आवें ।''[3] अन्य प्रकरण में शरीर सर्जना में आलाप के प्रवेश का उल्लेख है जो गाने की एक विधि कही जा सकती है ।[4]

वाद्य-संगीत :- इस काल में वाद्य-संगीत का भी प्रचलन था । इसमें कई वाद्य यंत्रों का उल्लेख मिलता है ।

दुन्दुभि:- इसको भेरी भी कहते हैं । यह पीट कर बजाया जाने वाला वाद्य है । इसका नाद इतना तेज होता था कि किसी अन्य शब्द को सुन सकना सर्वथा असम्भव था । इसके सम्बन्ध में लगातार दो सूक्त मिलते हैं ।[5] जिनसे प्रतीत होता है कि यह वाद्य युद्ध को आरम्भ करने के समय बजाया जाता था । यह रण भेरी थी । परन्तु इसके बजाने की विधि विशेष के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता है ।

शंख :- अथर्ववेद में शंख विषयक एक समस्त सूक्त प्राप्त होता है । यह नदियों और समुद्रों से प्राप्त किया जाता था ।[6] शंख वादन का आज भी प्रचलन है ।

नृत्य-कला :- इस कला के विषय में बहुत ही अल्प ज्ञान प्राप्तहोता है । केवल एक ही स्थान पर मनुष्यों द्वारा प्रसन्न होकर नाचने और गाने का उल्लेख है ।[7] परन्तु इसकी प्रणाली आदि पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता है ।

१- ब्लूमफील्ड, से०बु०ई०, भाग ४२, पृ० ६८८-८९

२- यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबा: । १२,१,४१
दोखये व्हिट्ने,अथर्ववेद का अनुवाद, पृ० ६६८, उच्च स्वर

३- गणास्त्वोपगायन्तु मारुता: पर्जन्यघोषिण: पृथक् । ४
समीक्षायस्व गायतो नभांस्यपां वेगास: पृथगुद् विजन्ताम् ।। ४,१५,४

४- आलापाश्च प्रलापाश्च .... शरीरं सर्वे प्राविशन् । ११,८,२५

५- उच्चैर्घोषो दुन्दुभि: सत्वनायन् । ५,२०,१
पूर्वो दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्या पृष्ठे वद रोचमान: । ५,२०,६
विहृदयं वैमनस्य वदामित्रेषु दुन्दुभे । ५,२०,१

६- सूक्त ४,१०, समुद्रज: सिन्धुतस्पर्यभृत: ।। ४,१०,४

७- वही १२,१,४१

है कि हे अग्नि देव मेरे शत्रु वास्तुविहीन हों।[1] यदि कोई क्षत्रिय ब्रह्मवी का हरण करता था तो उसके घर (वास्तु) में भेड़िया (वृक) शीघ्र ही र दन करते थे।[2] इस प्रकार अथर्ववैदिक काल में घर को सामान्य रूप में वास्तु कहा जाता था और घर के देवता को वास्तोष्पति।[3]

वास्तु शास्त्र की उपस्थिति का अथर्ववेद में कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु वास्तुकला की स्थिति तो अवश्य ज्ञात होती है। इस काल में दुर्ग या किले का द्योतक शब्द पुर था।[4] अथर्ववेद में एक स्थल पर लोहे (आयसी:) के किले का संदर्भ है।[5] अन्यत्र असुरों और दानवों के स्वर्णमिय किले का उल्लेख है।[6] एक मंत्र में देवों की पुरी अयोध्या का वर्णन है जिसमें आठ चक्र और नौ द्वार थे।[7] अयोध्या का यह वर्णन वाल्मीकि के वर्णन के अनुरूप है।[8] इसके अतिरिक्त सर्वप्रथम अथर्ववेद के वास्तुकला के विषय में अन्य सूक्तों[9] से भी ज्ञान प्राप्त होता है। इन से तत्कालीन गृह निर्माण पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इनमें प्रयुक्त शब्द उपमित्, उतिमित, प्रतिमित, अद्‌ु और विष्णूवन्त हैं। इनका अर्थ तो स्पष्ट नहीं है परन्तु त्सिमर महोदय इनके आधार पर इस प्रकार विवरण देते हैं।[10] इनके अनुसार एक प्रशस्त स्थान पर खम्भे (उपमित्) गाड़ दिये जाते थे और उनके सहारे धरनों (उतिमित) को एक कोण पर रख दिया जाता था। इस प्रकार सीधे खड़े स्तम्भों को उनके आधार पर रखी तिरछी काणियों (प्रतिमित) से संबध कर दिया जाता था। छाजन के लिये काणियों के कोण भाग पर एक धरन (विष्णूवन्त)

१- मैषामग्ने वास्तु भून्मो अपत्यम्। ७,११३,१

२- क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु वृका: कुर्वत ऐलबम्। १२,५,२६

३- वास्तोष्पति.... ६,७३,३, सायण एतत् संज्ञको गृहाणां पालको देव:।

४- वैदिक इं०, भाग १, पृ० ६१३

५- पुरं कृणुध्वमायसीरधृष्टा। १६,१८,४
दृष्टव्य इं० एस्थेटिक्स - के०सी०पाण्डेय, पृ० ५७६, भी

६- असुराणां पुरा ज्यद् दानवानां हिरण्ययी:। १०,६,१०

७- अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। १०,२,३१

८- चित्रामष्टापदाकाराम् बा०रा० १,५,१६

९- ५,३,१२,६,३

१०- त्सिमर, उद्धृत वै० इं०, भाग १, पृ० २५६

है कि हे अग्नि देव मेरे शत्रु वास्तुविहीन हों ।[१] यदि कोई क्षत्रिय ब्रह्मगवी का हरण करता था तो उसके घर (वास्तु) में भेड़िया (वृकं) शीघ्र ही र दन करते थे ।[२] इस प्रकार अथर्ववैदिक काल में घर को सामान्य रूप में वास्तु कहा जाता था और घर के देवता को वास्तोष्पति ।[३]

वास्तु शास्त्र की उपस्थिति का अथर्ववेद में कोई उल्लेख नहीं है । परन्तु वास्तुकला की स्थिति तो अवश्य ज्ञात होती है । इस काल में दुर्ग या किले का द्योतक शब्द पुर था ।[४] अथर्ववेद में एक स्थल पर लोहे (आयसी:) के किले का संदर्भ है ।[५] अन्यत्र असुरों और दानवों के स्वर्णमय किले का उल्लेख है ।[६] एक मंत्र में देवों की पुरी अयोध्या का वर्णन है जिसमें आठ चक्र और नौ द्वार थे ।[७] अयोध्या का यह वर्णन वाल्मीकि के वर्णन के अनुरूप है ।[८] इसके अतिरिक्त सर्वप्रथम अथर्ववेद के वास्तुकला के विषय में अन्य सूक्तों से भी ज्ञान प्राप्त होता है । इन से तत्कालीन गृह निर्माण पर कुछ प्रकाश पड़ता है । इनमें प्रयुक्त शब्द उपमित्, उतिमित, प्रतिमित, अद्य और विषूवन्त हैं । इनका अर्थ तो स्पष्ट नहीं है परन्तु त्सिमर महोदय इनके आधार पर इस प्रकार विवरण देते हैं ।[९,१०] इनके अनुसार एक प्रशस्त स्थान पर खम्भे (उपमित्) गाड़ दिये जाते थे और उनके सहारे धरनों (उतिमित) को एक कोण पर रख दिया जाता था । इस प्रकार सीधे खड़े स्तम्भों को उनके आधार पर रखी तिरछी कड़ियों (प्रतिमित) से संबध कर दिया जाता था । छाजन के लिये कड़ियों के कोण भाग पर एक धरन (विषूवन्त)

१- मैषामग्ने वास्तु भून्मो अपत्यम् । ७,११३,१

२- क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु वृका: कुर्वत ऐलबम् । १२,५,२६

३- वास्तोष्पति.... ६,७३,३, सायण एतत् संज्ञको गृहाणां पालको देव: ।

४- वैदिक इं०, भाग १, पृ० ६१३

५- पुरं कृणुध्वमायसीरधृष्टा । १६,५८,४
दृष्टव्य इं० एस्थेटिक्स - के०सी०पाण्डेय, पृ० ५७६, भी

६- असुराणां पुरा ज्यद् दानवानां हिरण्ययी: । १०,६,१०

७- अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या । १०,२,३१

८- चित्रामष्टापदाकाराम् बा०रा०,१,५,१६

९- ३,३,१२,६,३

१०- त्सिमर, उद्धृत वै० इं०, भाग १, पृ० २५६

दिये जाते थे । इन सब के ऊपर एक जाल (अदु) डाल दिया जाता था । दिवारों का निर्माण घास के गट्ठरों (पलद) को एक दूसरे पर रख दिया जाता था और अनेक प्रकार के बन्धनों (नहन, प्रणाहै, संदश, परिष्व और जल्प) द्वारा घर के सम्पूर्ण ढांचे को सन्नद्ध कर दिया जाता था फिर भी ये विवरण संदिग्ध ही हैं और घर के निर्माण के विषय में कुछ निश्चित ज्ञात नहीं होता ।

भवन निर्माण संबंधी उपकरणों में बांस का प्रयोग प्रमुख रूप से होता था । एक मंत्र में बांस के खम्भों की स्थापना का प्रकरण प्राप्त होता है ।[१] बांस का प्रयोग छत आदि निर्माण के कार्यों के हेतु किया जाता रहा होगा शाला सूक्त में इट की उपस्थिति कच्चे ईंटों की ओर संकेत करता है ।[२] परन्तु वैदिक इंडैक्स में इट को नरकट से समीकृत किया गया है । जिसका प्रयोग दिवालों को सुदृढ़ बनाने के हेतु होता था ।[३] घर की छत को ढकने के लिये घास फूस काम में लाये जाते थे ।[४] कई भवनों के दो किनारे होते थे और कुछ के चार, कितने तो षट् भुजा, अष्ट भुजा और दश भुजा के होते थे ।[५] एक स्थान में भवन की तुलना हाथी से की गई है ।[६] गृह का प्रयोग एक वचन और द्विवचन दोनों में हुआ है ।[७]इससे व्यक्त होता है कि भवन कई कमरों में विभक्त था । प्रत्येक घर में साधारणतया अग्नि शाल नाम का एक कमरा होता था । जिसमें हर समय अग्नि प्रज्वलित रहती थी । स्त्रियों के कमरे को पत्नी सदन[१०]और बैठका को सदस्[९] कहा जाता था । मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं के रहने के लिये भी घर होते थे जिन्हे गोष्ठ कहा जाता था । एक मंत्र में गौवों की गोष्ठ में समृद्धि के हेतु प्रार्थना की

१- ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून् । ३,१२,६

२- इटस्य ते वि चृताम्यपिनद्धमपोर्णुवन् । ६,३,१८

३- वै०इं०, भाग १,पृ० २५७

४- तृणैरावृता पलदान् वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशिनी। ६,३,१७

५- या द्विपक्षा चतुष्पक्षा, षट्पक्षा या निमीयते ।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये ।। ६,३,२१

६- मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती । ६,३,१७

७- गृहानलुभ्यतो वयं विशेमोप गोमत: । ३,१०,११, और १,२७,४ एवं ६,१३७,१.

८- हविर्धानमग्निशालं । ६,३,७

९- सदो देवानामसि देविशाले । ६,३,७

१०-पत्नीनां सदनं सद: । वही ६,३,७

लोग अपने घर के प्रति बहुत ही निष्ठा रखते थे । उनकी कामना थी कि उनका घर सौ वर्ष तक रहे ।[3] इस प्रकार की भावना निसंदेह उनके स्थायी निवास की ओर संकेत करती है । कुछ मंत्रों से इस बात की भी पुष्टि होती है कि घास फूस के घर बना कर ब्राह्मण पुरोहितों को दान कर दिया जाता था ।[4]

परम सत्ता में आनन्द की कल्पना :- अथर्ववैदिक व्यक्ति वस्तुओं के सौन्दर्य का भी पारखी था । उसका विश्वास है कि ब्रह्म में यदि अप्रिय, स्वप्न तथा तन्द्रा का आवास है तो उसमें प्रिय और आनन्द का भी स्थान है ।[5] दूसरे स्थल में उच्छिष्ट ब्रह्म की चर्चा है जिसमें अन्य वस्तुओं की भांति आनन्द, मोद (हर्ष) और हंसी आदि की भी सृष्टि की थी ।[6] अन्यत्र कथन है कि शरीर में ब्रह्म के प्रवेश होते ही आनन्द और मोद का भी प्रवेश होता है ।[7] अत: उक्त उद्धरणों में कोई गम्भीर दार्शनिक अर्थ यदि न भी स्वीकार किया जाए तब भी ये परोक्ष सत्ता में आनन्द और हर्ष की कल्पना को दृढ़ करते हैं । यही विचार धारा ~~परिवर्ती सन्निहित~~ परवर्ती आनन्दमय ब्रह्म के सिद्धान्त के उदगम् का मूल स्रोत है ।[8]

१- पशूनां सर्वेषां स्फाति गोष्ठे मे सविता करत् । १६,३१,१
२- १६,५५ १
३- गृहाणां शाले शतं जीवेम शरद: सर्ववीरा: । ३,१२,६
४- व्हिटने अथर्ववेद, पृ० ५२५. और मंत्र ६,३,२४ भी दृष्टव्य
५- प्रियाप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतंद्र्य: ।
   आनन्दानुग्रो नन्दाश्च कस्माद् वहति पूरु ष: । १०,२,६
   यह मंत्र केन सूक्त (१०,२) का है जिसका उत्तर ब्रह्म कह कर दिया गया है ।
६- आनन्दा मोदा: प्र मुदोभीमोद मुदश्च ये ।
   उच्छिष्टा जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रित: ।। ११,७,२६
७- शरीरं ब्रह्म प्राविशत् (११,८,२३) आनन्दा मोदा
   प्रमुदो भीमोदमुदश्च ये... शरीरमनु प्राविशन् ।। ११,८,२४
८- तैत्तिरीय उपनिषद् में आनन्द को ब्रह्म कहा गया है, आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् (तै०उ०, ३,६)। उसका अन्यत्र भी विस्तृत वर्णन है । जहां उसके सिर को प्रिय, दक्षिण पक्ष को मोद तथा उत्तर पक्ष को प्रमोद कहा गया है और उसकी आत्मा को आनन्द कहा गया है । तस्य प्रियमेव शिर: । मोदो दक्षिण: पक्ष: । प्रमोद उत्तर: पक्ष: । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा । तै० उ०, २,५

आत्मा में रस का आवास :- अथर्वकालिक व्यक्ति आध्यात्मिक सत्ता में रस की भी कल्पना करता है । एक मंत्र में स्वयंभू और युवा आत्मा का वर्णन है । उसमें आत्मा को रस से तृप्त कहा गया है ।[1] आत्मा को अन्यत्र तो रस ही कहा गया है ।[2] एक मंत्र में पार्थिव रस का वर्णन है । जिसे पीकर भग देव हृष्ट पुष्ट हो गये थे ।[3]

प्रकृति में सुन्दरता की कल्पना : - अथर्वकालिक आर्य ने प्रकृति के सत्यं शिवम् सुन्दरम् तीनों रूपों की उपासना की थी । यदि देवगण उनके लिए संरक्षक और कल्याणकारी थे तो उनमें सुन्दरता का भी आवास था । अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले सविता देव विचित्र कान्ति वाले समझे जाते थे ।[4] हे विचित्र दीप्ति वाले सविता देव, तुम्हारे उदित होते ही लोग तेरे व्रत में संलग्न हो जाते हैं । अन्यत्र सूर्य का धन (राध) चित्र कहा गया है ।[5] रोहित देव भी चित्रभानु (विचित्र किरणों वाले) कहे गये हैं जिनमें सात सूर्य (करणें) एक ही साथ सम्पृक्त हैं ।[6] इससे प्रतीत होता है कि उगते सूर्य की सप्त रंगी किरणों को देख कर कवि ने उसे चित्र विचित्र कहा । दूसरी जगह रोहित (लाल सूर्य) की तुलना उच्चे पंखों वाले पक्षी (सुपर्ण) से की गई है जो अन्तरिक्ष के दोनों छोरों को दीप्तिमान करता है ।[7] रोहित को एक मंत्र में देवों का चित्रित पताका कहा गया है ।[8] सूर्य की अपेक्षा सूर्य पुत्री सूर्या के भी सुन्दर स्वरूप का वर्णन है । सूर्या का वर्णन विवाह सूक्त में है ।[9] वहां उस दैवी शक्ति के वर्णन में एक सुन्दर रमणी का चारू चित्र आंखों के समक्ष उपस्थित हो जाता है । विवाहिता सूर्या के नेत्रों में अंजन लगा हुआ है । उसके वस्त्र बहुत ही सुन्दर हैं । उसके केश कुरीर और ओपश पद्धति से संवारे गये हैं[10] इस प्रकार

१- अकामो धीरो अमृत: स्वयम्भू रसेन तृप्त न कुतश्च नोन: ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्युरात्मानं धीरमजरं युवानम् ।। १०,८,४४

२- रसो वै स: रसं ह वायं लब्ध्वा नन्दी भवाति । तै०उ०, २,७

३- ३,२६,१

४- तौ व्रते नि विशन्ते जनासस्त्व युदिते प्रेरते चित्रभानो । ४,२५,३

५- सविता चित्र राधा । १,२६,२, सायण चित्रं राधं धनं यस्य स: ।

६- चित्रभानु । यस्मिन् सूर्यार्पिता आर्पिता: सप्त साकम् ।। १३,१,१०

७- चित्राश्चिकित्वान् महिष: सुपर्ण आरोचयन् रोदसी अन्तरिक्षम् ।१३,२,३३

८- चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान् प्रदिश: प्रातर क्न् । १३,२,३४

९- १४,१-२

अलंकृता सूर्या रथ पर चढ़ कर पति गृह जा रही है । हे सूर्ये, अच्छे अच्छे फूलों से सुसज्जित (सुकिंशुकम्), नाना प्रकार के सुवर्ण के रंग के सुन्दर बने हुए उत्तम चक्रों वाले रथ पर चढ़ ।''[1] यहां वैदिक ऋषि ने सूर्या के बहाने एक सुन्दरी वधू का चित्ताकर्षक चित्र खिंचा है ।

सुन्दरता के देव गन्धर्व :- अथर्ववैदिक ऋषि ने सुन्दरता के प्रतिनिध देव को गन्धर्व तथा सुन्दरता की देवी को अप्सरा कहा है । गन्धर्व गंध को धारण करने वाले देव समझे जाते थे ।[2] वे सुरभित परिधान धारण करते थे ।[3] रौथ महोदय गन्धर्वों को इन्द्र धनुष का प्रतिरूप मानते हैं ।[4] अथर्ववेद के एक प्रकरण में विराट् गौ का गन्धर्वों के पास जाने का उल्लेख है । जब वह उनके लोक में गई तो गन्धर्वों और अप्सराओं ने उसे "हे पुण्य-गन्धे, आवो"। इस प्रकार सादर बुलाया । वहां उसका बछड़ा सूर्य के समान कान्तिमान (सूर्यवर्चस्) चित्ररथ था । वसुर चि ने उससे पुण्य गन्ध का दोहन किया । जिससे अप्सरा और गन्धर्व जीवन धारण करते हैं ।[5] गन्धर्वलोक के उक्त नाम चित्ररथ वसुर चि आदि भी उनकी सुन्दरता की विचारधारा को दृढ़ करते हैं । गन्धर्व लोग अन्यत्र एक स्वतंत्र संगीत के प्रवर्तक भी कहे गये हैं ।[6] द्यूत क्रीड़ा में अप्सराएं असीम आनन्द को प्राप्त कराने वाली समझी जाती थीं ।[7]

१- सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं ।। १४ १,६१

२- यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव... य गन्धर्वाप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु । १२,१,२३

३- ऋ० १०,१२३,७

४- रौथ निरुक्त प्रस्तावना, १४५

५- ८,१०,

६- डा० के०सी० पाण्डेय - इं० एस्थैटिक्स्, भाग १, पृ० ५२२

७- या अक्षेषु प्रमोदन्ते शुचं क्रोधं च बिभ्रती ।
आनन्दिनीं प्रमोदिनीमप्सरां तामिह हुवे ।। ४,३८,४

ग्रन्थ सूची

१- अथर्ववेद संहिता (शौनक शाखा) मूल, अजमेर, वैदिक यन्त्रालय, १९१६ ई०

२- अथर्ववेद संहिता (शौनक शाखा) मूल, आर० रॉथ एण्ड डब्ल्यू० डी० व्हिटने, बर्लिन, १८५६ ।

३- अथर्ववेद संहिता (पैप्पलाद शाखा), रघुवीर, सं०, काण्ड १-१३, लाहौर, सरस्वती विहार सीरीज़, १ । १९३६ ।

काण्ड १४-१८, लाहौर, सरस्वती विहार सीरीज़, ९, १९४० ।

काण्ड १९-२०, लाहौर, सरस्वती विहार सीरीज़, १२, १९४२ ।

४- काश्मीरियन अथर्ववेद संहिता, काण्ड १, बैरेट, एल०सी०, ज० आफ अमेरिकन ओरिएन्टल सोसाइटी, भाग २६,

५- काश्मीरियन अथर्ववेद संहिता, काण्ड २, बैरेट, एल०सी०, ज० आफ अमेरिकन ओ० सो०, भाग ३०,

६- काश्मीरियन अथर्ववेद संहिता, काण्ड ३, बैरेट, एल०सी०, ज० आफ अ० ओ०सो०, भाग ३२

७- काश्मीरियन अथर्ववेद संहिता, काण्ड ४, बैरेट, एल०सी०, ज० आफ अ० ओ०सो०, भाग ३५

इसी प्रकार काण्ड ५-१५ तक, बैरेट, एल०सी०, ज० आफ अ० ओ०सो०, के क्रमश: भाग ३७,३४ सी० एफ० ४१, ४०-४४, ४६, ४८,४७,५० में प्रकाशित ।

८- काश्मीरियन अथर्ववेद संहिता, काण्ड १६-१७, बैरेट, एल०सी०, ज० आफ अ०ओ०सो०, भाग ९, १९३६ ।

और काण्ड १८, वही, भाग ५८, १९३८ तथा काण्ड १९-२० वही, १९४० ।

९- अथर्ववेद संहिता (शौनक शाखा), सायण भाष्य सहित, शंकर पाण्डुरंग पण्डित, भाग १-४, बम्बई, १८९८ ।

१०- अथर्ववेद संहिता (शौनक शाखा), सायण भाष्य सहित, विश्वबन्धु, भाग १-२, होशियारपुर, विश्वेश्वरानन्द भारतीय ग्रन्थमाला सीरीज़, १९६१ ।

११- अथर्ववेद संहिता, भाषा भाष्य, भाग १-४, जयदेव शर्मा, अजमेर, सं० १६८५ विक्रम ।
१२- अथर्ववेद संहिता, सातवलेकर, श्रीपाद स्वाध्याय मण्डल, पार्डी, १६५७ ।
१३- अथर्ववेद का सुबोध भाष्य, भाग १-४, पार्डी, स्वाध्याय मण्डल, १६५८ ।
१४- अथर्ववेद का व्रात्यकाण्ड, श्रुतिप्रभा टीका, डा०सम्पूर्णानन्द ।
१५- अथर्ववेदपदानां अकारादिवर्णक्रमानुक्रमणिका, विश्वेश्वरानन्द नित्यानन्द, बम्बई, निर्णय सागर प्रेस, १६०७ ।
१६-

अनुवाद

१- अथर्ववेद संहिता, डब्ल्यू०डी०व्हिट्ने, (अंग्रेजी), हारवर्ड ~~यूनिवर्सिटी~~ ओरियण्टल सीरीज़, भाग ७-८, १६०५ ।
२- द हिम्स आफ द अथर्ववेद, आर०टी०एच०ग्रिफिथ, भाग १-२ (अंग्रेजी), बनारस, १६५७ ।
३- सम हिम्स आफ द अथर्ववेद, एम०ब्लूमफील्ड, सैं०बुक्स आफ द ईस्ट, भाग ४२, आक्सफोर्ड, १८५७ ।

ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थ

१- गोपथ ब्राह्मण, राजेन्द्र लाल मित्र और एच० विद्याभूषण, कलकत्ता, १८७२ ।
२- कौशिक सूत्र, एम० ब्लूमफील्ड, बाल्टिमोर, १८८६ ।
३- वैतान सूत्र आर०गार्बे,

चुने हुए ग्रन्थ

१- अल्तेकर, ए०एस०, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, भारत दपर्ण ग्रन्थ माला, नं० १, १६४८ ।

२- अल्तेकर, ए०एस०, राजा के देवत्व की भावना, काशी विद्यापीठ, एस० ज०, भाग ४७, पृ०८६-६०

२- आर्ष प्रियरत्न, अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र,

३- उपाध्याय, बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, बनारस,

४- उपाध्याय, बलदेव, वैदिक साहित्यन और संस्कृति,

५- उपाध्याय, गंगाप्रसाद, वैदिक सभ्यता,

६- ओझा, कमोमोरेटिव वाल्यूम, व्रात्य समस्या और अथर्ववेद का पन्द्रहवां काण्ड ।

७- कीथ, ए०बी० और मैक्डानल, वैदिक इन्डेक्स, भाग १-२ (हिन्दी), अनुवादक रामकुमार राय, चौखम्भा, वाराणसी, १६६२ ।

८- गुप्त, उमेश चन्द्र, वैद्यक शब्द सिन्धु, कलकत्ता, १८८४ ।

६- चतुर्वेदी, एस०, वैदिक राजनीतिः, भारती ७(१२), पृ० २६८-७१

१०- पाण्डेय तथा जोशी, वैदिक साहित्य की रूपरेखा,

११- पाण्डेय तथा जोशी, प्राचीन भारतीय साहित्य (विन्टरनित्स) हिन्दी अनु०लाजपतराय

१२- पाण्डेय, आर०बी०, हिन्दू संस्कार, १६५७ ।

१३- प्रियव्रत, वेदों में स्त्रियों का विवाहित जीवन, गुरुकुल पत्रिका ८(१०), पृ०२६३-६६

१४- मैक्डानल, ए०ए०, वैदिक माइथालोजी, अनु०रामकुमार राय,। वैदिक देवता शास्त्र, अनु० डा० सूर्यकान्त ।

१५- विहारी लाल, हिन्दी में वैदिक साहित्य, सम्मेलन, पत्रिका, ३७ (२), ११

१६- शिवपूजन सिंह, अथर्ववेदीय सूक्तावलोकन, वेदवाणी, १३(१-२), ८३-६०, वाराणसी, अजमतगेट पैलेस ।

१७- शास्त्री, लक्ष्मण, वैदिक संस्कृति का विकास,

१८- शास्त्री, रामगोपाल, वेद में आयुर्वेद

२०- शशि मोहिता, वेदों में भारतीय नारी की स्थिति, विश्वज्योति, ८(५), २९-३०

२१- सातवलेकर, वैदिक व्याख्यानमाला, स्वाध्याय मण्डल, पारडी (सूरत)।

२२- सुरेशचन्द्र, वेदों में मानसिक विज्ञान, विश्वज्योति, ८(१२), २४-२६

23. Altekar, A.S: State and government in Ancient India. Varanasi, 1958.

24. ALTEKAR, A.S: Position of women in Hindu Civilization.

25. ALTEKAR, A.S: Education in Ancient India. Varanasi, 1957.

26. ALTEKAR, A.S: State and Citizen in Ancient India, Indian Hist. Qly., 22 (40) p.269-76.

27. AIYANGAR, K.V.R.RANGSWAMI: Aspects of Indian Economic Thought. Varanasi, 1934.

28. AIYAR, K.N.NARAYA: Agriculture and allied Arts in Vedic India. Banglore, 1919.

29. APTE, V.M.: Social and Religious Life in Grihya Sutras. Bombay, 1939.

30. AWASTHI, A: Sati - was it a Vedic Rite? Annual Bull. Nagpur Univ. His. Soc. 2, p. 7-15.

31. ABHAYA: Vedic Brahmcharya-root (Hindi), Gurukul Kangari, 19..

32. BHATTACHARYA, DURGAMOHAN: Light on the Paippalada Recension of Atharvaveda. Our Heritage,3, p.1-14.

33. Basu, and KIRTIKAR: Indian Medical Plants.

34. BASU, P.C.: Indo-Aryan Polity.

35. Bandopadhayay, N.C.: Economic life in ancient India, v.1. Calcutta, 1925.

36. BAGCHI, P.C.: History of Pre-Buddhist Philosophy.

37. BHANDARKAR, D.R.: Some Aspects of Ancient Hindu Polity.

38. BHATTACHARYA, I.: On the significance of the name Brahmveda as applied to the Atharvaveda. Our Heritage, p.205-19.

39. BASU, JOGIRAJ: The education of women in Vedic India. Bull. of Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta,

41. BARTH, A.: The Religions of India. Lond., 1906.

42. BELVAIKER AND RANADE: History of the Indian Philospphy, v.2. Poona, 1927.

43. BLOOMFIELD, M: Tho Atharvaved and Gopathb Brahman. Strassburg, 1899.

44. ... The Hymns of the Atharvaved. Sacred Books of the East, v.42.

45. ... Religion of the Atharvaved. New York, Putnam, 1908.

46. ... Vedic Concordance, v.1-2.

47. ... Seven Hymns of the Atharvaved. Am. Jnl. of Philology, VII, 486-87.

48. Bhartiya Vidya Bhavan Series: The Vedic Age.

49. ...: Imperial Unity.

50. ...: The Classical Age.

51. Choudhary, J.B.: The Position of women in the Vedic Ritual. Calcutta, 1956.

52. Choudhary, P.: Studies in the comparative Aesthetics.

53. CHOUDHARY, R.K.: Public opinion in Ancient India. Short Proc.(15th All India O.Con., Bombay, 1949, p.89)

54. Choudhary, S.B.: Ethnic settlement in Ancient India. Calcutta, General Pub., 1955.

55. Cultural Heritage of India, 3v. Ramakrishna Centenary Volumes.

56. CHATTOPADHYAYA, KSHETRESH CHANDRA: On the text of Atharvaved. Vak (B.O.R.I.)4; Oct. 1954, 87.

57. DANDEKAR, R.N.: Vedic bibliography. 2v. Poona,

58. DAS, S.K.: The Economic history of Ancien India. Howrah, 1925.

59. DAS, A.C.: Rigvedic culture. Calcutta, 1925.

60. DAS, S.K.: Education system of Ancient Hindus. Calcutta, 1925.

61. DEUSSEU: Philosophy of the upanishads; tr. by Rev. A.S. Geden, 1906.

62. DIKSHITAR, V.R.R.: Mauryan Polity.

63. ...: War in Ancient India.

64. DHARMA, P.C.: The Status of women in

Hindu Mathematics. v.1. Lahore, 1935.

66. ENCYCLOPEADIA OF RELIGION AND ETHICS,

67. FARGUHAR: An Outline of religious literature of India. Lond., 1920.

68. GHOSHAL, U.N.: History of Hindu political ideas. Bomaby, 1959.

69. ...: A History of Hindu Public Life, pt.1.

70. GADGIL, V.A.: The Role of the Atharvanic ritual and ideology in Aryan culture. S.P.(14th A.I.O.C.) Darbhanga 1948, 5-7.

71. GRISWOLD: Religion of the Rigveda.

72. Giri, Swamin Mahadeva Prasad: Vedica culture. Calcutta, 1947.

73. GURJAR, L.V.: Ancient Indian Mathematics and Vedh. chpa.I-III. Continental Book Series, Poona, 1947.

74. Ghule, Krishnasashtri: Vedatil rogjantu shastra (Marathi). Ghule Lekha Sangraha, 1949.

75. GODE, P.K.: 30 years of Historical researches.

76. GANGULI' N.C. Indian Political Philosophy. (Vedic Literature). Calcutta, 1939.

77. HARIDAS; BALASASTRI: Vedatila rastradarsana (Marathi). Poona, v.1, 1955.

78. HANS RAJ: Science in the Vedas. shakti Publications, Ludhiana, 1956, p.63.

79. HOPKINS, E.W.: A Handbook of the history of religions. v.1. New York, 1895.

80. Hillebrandt: Ritual Literature. Strassburg, 1915.

81. HOPKINS, E.W.: The Divinity of Kings, Jnl. of Am. O. Soc., 1931.

82. HEROLD, ERICH: A Contribution to the interpretation of Atharvaveda, 1,14,4. Arch. or 24(1), 1956, 117-19.

83. INDRA: The Status of women in Ancient India. Banaras, 1955.

84. JAYSWAL, K.R.: Hindu Polity. Banglore, 1943.

85. JNL. OF U.P. HISTORICAL SOCIETY.

86. KARMARKAR, V.W.: Brahma and Purohita in Atharvaveda. Ind. His. Qly., 26(4), 293-300.

87. ...: Ahtarva Vedatil Sariravijananan. Vidarbha, Samsodhan Mandal, Annual, 1958,

89. Karmavelkar, V.W.: The Place of Atharva-vedic culture into Indo-Aryan culture. Nagpur Univ. Pub.

90. ...: Atharvaveda and Amx Ayurveda.

91. KIBE:The Date of the Atharvaveda. Poona, Oriental, 1955-56.

92. ...:The Date, Home, and Content of the Atharvaveda. SP (18th A.I.O.C.) Annamalyanger, 1955, p.11.

93. KEITH, A.B.: The Religion and Philosophy of the Vedas and Upnishads.2v. Harvard Univ. Pr., 1925.

94. LAW, B.C.: Ancient Indian Tribes. 2v.

95. LAW, N.N.: Studies in Ancient Hindu Polity.

96. LOUIS, R.: Vedic India, Classical India Series, v.3., tr. by Philip Sbratt, Calcutta, 1957.

97. LOMEL, H.: Das Varuna und Fluch-gedicht in Atharvaveda zeitschrift der deutschen morgeulaendischeu gesellschaft, Wiesbaden.

98. MACDONELL, A.A. and A.B. Keith: Vedic Index, v.1 & 2. Varanasi, Motilal Banarsidas, 1958.

99. MACDONELL, A.A.: Vedic Mythology, Strassburgh, 1897.

100.Majumdar, R.C.: The Vedic Age.

101....: Corporate Life in Ancient India, 1918.

102.Maxmuller, F.A.: History of Ancient Sanskrit Literature. Lond., 1860.

103....: India what it teach us?

104.MEHTA, D.D.: The Bases of astrology in the vedas. Acad. of Vedic Res., Delhi, p.10.

105.MEHTA, R.L.: Pre-Buddhist India.

106.MODAK, B.R.: Agricutural hymns in the Atharvaved and thier usage.SP (19th A.I.O.C. Delhi, 1957, p.13.

107....: A Study of the Ancillary literature of the Atharvaveda; with a special reference to the Parisistas. Poona, 1951.

108.MUKHOPADHYAYA, G.N.: History of Indian Medicine, v.1 & 2. Calcutta, 1923-29.

109.MACDONELL,A.A.: India's past.

110.NARHARI, H.C.: Vedic scholars and the Atharvaveda. AP 22(5) May 1951, 209-12.

111.NAWORE, H.R.: Aspects of Brahma in Atharvaveda. SP (16th A.I.O.C.) Lucknow 1951, p.5.

112. OJHA, K.C.: A Historical survey of the North Western India, 600 B.C. to 700 A.D.

113. OZA, U.K.: The Rohita suktas of the Atharvaveda (Book 13) AP 19 (1-2), Dec. 1948, 547-49.

114. PANDEY, R.B.: Hymns of restorationin the Atharvaveda: Their political significance SP (17th A.I.O.C.), Ahmedabad, 1953, 11-12.

115. ...: Hymn for commercial success in the Atharvaveda: Economic significance. PIHC 16th session, Waltair, 1955, 30-35.

116. ...: Vedic origin of Indian republics. Proc. of Indian His. Con. (15th session,1954 79-85.

117. ...: The Hymns of election in the Atharvaveda and its political implications. PIHC (14th session, 1951), 86-91.

118. ...: Atharvaveda me matribhumi ki kalpana. NPP 63(3-4), 233-41.

119. ...:Hindu samskar. Vikram Publications, Banaras, 1949.

120. PANDEY, K.C.: Indian Aesthetics. v.1. Varanasi, 1959.

121. PANDEY, SIDDHA NATH: Position of Brahamanas in Ancient India, 1963. (Thesis)

122 PAYGEE, N.B.: Self government in Vedic India.

123. PRASAD, Beni.: Theory of government in Ancient India. Allahabad, 1928.

124. PURI, B.N.: India at the time of Patanjali. Bombay, 1957.

125. PRAKASH, OM: Food and drink in Ancient India. Delhi, 1961.

126. QTY. JNL. OF MYTHIC SOCIETY.

127. RADHAKRISHNAN, S.: Indian Philosophy, v.1.

128. RAPSON, E.J.: The Cambridge history of India, v.1. Delhi, S. Chand and Co.,1955.

129. RANADE, R.D.: Constructive survey of the Upanishadic philosophy. Poona, 1926.

130. RAY, P.C.: A History of Hindu chemistry.

131. ROY CHAUDHURI, H.C.: Political history of Ancient India: 4th ed.

132. RAI, U.N.: Cities and city life in Ancient India.

133. RAI, SIDDHESHWARI NARAYAN: Religious and social data in puranas.

134. ~~SHARMA~~, RENOU, L.: Review on the Kashmirian Atharvaveda, Books 19-20 (ed. by L.C.

135. SHARMA, R.S.: Sudras in Ancient India. Varanasi, Motilal Banarsidas, 1958.

136. ...: Aspects of political idea and institution in Ancient India. Varanasi, Motilal Banarsidas, 1959.

137. ...: The Vidatha; The earliest folk-assembly of Indo-Aryans. PIHC, 1954.

138. SHARMA, G.R.: Excavations at Kaushambi. Alld. Univ. Pub.

139. SHINDE: Foundations of Atharvanic religion. in Deccan College Bull., v.IX.

140. ...: Religion and philosophy of the Atharvaveda. 1952.

141. SAMPURNANAND: Atharvaveda ka parichaya. Kashi Vidyapeeth Silver Jublee Volume, 1947, 11-29.

142. SAHODA, T.: On the Philosophical hymns in the Atharvaveda (Japanese Yamagehi Comm. vol., Kyoto, 1955.)

143. SINHA, H.N.: Sovereignty in Ancient Indian Polity.

144. SIRCAR, S.C.: Some aspects of the earliest social history of India. Lond., 1928.

145. SHASTRI, P.S.: Atharvavedic hymns to the Earth. Ind. His. Qly., 30, 101

146. SHASTRI, SHAKUNTALA RAO: Women in Vedic age. Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1954.

147. SHASTRI, K.S.R.: Indian Aesthetics.

148. SOLOMON, E.A.: Skambha hymns of the Atharvaveda. SP(20th AIOC), Bhuvaneshwar, 1959, 22-33.

149. TILAK, B.G.: Vedic chronology.

150. TRIVEDI, R.G.: Vaidic sahitya (Hindi)

151. UPADHYAYA, G.P.: Vedic culture. Sarva Deshik Arya Pratinidhi Sabha Delhi, 1949.

152. UPADHYAYA, B.S.: Women in the Rigveda.

153. VENKAT, SUBHAIYAH: Vedic studies.

154. WEBER: The History of Indian literature.

155. WINTERNITZ, M.A.: History of Indian literature, v.I. Univ. of Calcutta, 1927.

156. YADAV, B.N.S.: Some aspects of society in Northern India in 12th century A.D.

1. American Journal of Philology.

2. Annals of Bhandarkar Oriental Institute Poona.

3. Bulletin of Deccan College Reseath and Post Graduage Institute, Poona.

4. Bhavan's journal, Bombay.

5. Indian Culture, Calcutta.

6. Indian Historical Quarterly.

7. Journal of American Oriental Society.

8. Journal of Royal Asiatic Society.

9. Journal of the University of Bombay.

10. Journal of Bihar and Orissa Research Society, Patna.

11. Journal of Asiatic Society of Bengal, Calcutta.

12. Journal of the Ganganath Jha Research Institute, Allahabad.

13. Modern Reviews.

14. Memoirs of the Archeological Survey of India.

15. Prabuddha Bharata, Calcutta.

16. Proceedings of Indian History Congress.